HAL open science

महिषासुर: एक जननायक

Pramod Ranjan, Premkumar Mani, Shibu Soren, Madhusree Mukerjee, Rajna Kumar, Rajendraprasad Singh, Nootan Malvi, Gail Omvedt, Sekher Ajay S., Kancha Ilaiah, et al.

► To cite this version:

Pramod Ranjan (Dir.). महिषासुर: एक जननायक. 2017, 978-93-87441-00-2. ⟨hal-03749960⟩

HAL Id: hal-03749960
https://hal.science/hal-03749960v1

Submitted on 11 Aug 2022

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire HAL, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License

महिषासुर

एक जननायक

संपादक : प्रमोद रंजन

बहुजन वैचारिकी के
सांस्कृतिक आंदोलन के प्रस्तावक
महास्थविर भिक्खु बोधानंद (1874-11 मई 1952) को

महिषासुर
एक जननायक

संपादक

प्रमोद रंजन

FORWARD PRESS फारवर्ड प्रेस
By and for India's aspiring millions
लाखों भारतियों की आकांक्षाओं का प्रतीक
BOOKS

The Marginalised Publication

ISBN : 978-93-87441-00-2 (अजिल्द)
978-93-87441-01-9 (सजिल्द)

पहला संस्करण : जून, 2016
पुनर्मुद्रित : अक्टूबर, 2016
दूसरा संस्करण : नवम्बर, 2017

प्रकाशक : **द मार्जिनलाइज्ड**
इग्नू रोड, नई दिल्ली - 110068
(पंजीकृत कार्यालय : सानेवाड़ी वर्धा, महाराष्ट्र - 442001)

ई-मेल : themarginalised@gmail.com
संपर्क : +91-9968527911, 8130284314

© फारवर्ड प्रेस बुक्स

आवरण : 'औष्ट्रिक व पशुपालक महिषासुर', लाल रत्नाकर
डिजाइन-लेआउट : राजन कुमार
मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

महिषासुर : एक जननायक (संस्कृति विमर्श)
संपादक : प्रमोद रंजन

MAHISHASURA : EK JANNAYAK (A Discourse on Culture)
Edited by Pramod Ranjan

अनुक्रम

भूमिका		(i)
एक सांस्कृतिक युद्ध		(vii)
खण्ड : 1 – पुनर्पाठ		
किसकी पूजा कर रहे हैं बहुजन?	*प्रेमकुमार मणि*	17
हत्याओं का जश्न क्यों?	*प्रेमकुमार मणि*	21
दशहरे के त्योहार पर	*प्रेमकुमार मणि*	24
असुर होने पर मुझे गर्व है	*शिबू सोरेन*	27
संथाल संहारक दुर्गा	*मधुश्री मुखर्जी*	28
मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ में असुर परंपराएं	*राजन कुमार*	34
दलित-बहुजन दृष्टिकोण और महिषासुर विमर्श	*ब्रज रंजन मणि*	37
भाषाविज्ञान की दृष्टि में महिषासुर	*राजेन्द्रप्रसाद सिंह*	48
दुर्गा का मौलिक स्वरूप	*नूतन मालवी*	51
महिषासुर और बली प्रतिपदा	*गेल ऑम्वेट*	56
महिषासुर, रावण और महाबली	*अजय एस. शेखर*	57
खण्ड – 2 – सांस्कृतिक युद्ध		
एक सांस्कृतिक आंदोलन के चार साल	*प्रमोद रंजन व रवि प्रकाश*	71
बहुजन विमर्श के कारण निशाने पर आया जेएनयू	*प्रमोद रंजन*	80
नहीं रुकेगा सांस्कृतिक संघर्ष	*कांचा आयलैया*	95
महिषा के पक्ष में कन्नड़ बुद्धिजीवी	*एम. दिलीप कुमार*	98
छत्तीसगढ़ में महिषासुर के वंशजों का विद्रोह	*नंदिनी सुंदर*	100
महिषासुर की बेटी को राष्ट्रपति ने दिया सम्मान	*संजीव चन्दन*	106
महाप्रतापी महिषासुर की वंशज सुषमा	*अश्विनी कुमार पंकज*	110
दुर्गा, महिषासुर व जाति की राजनीति	*राम पुनियानी*	114
मैं दुर्गा पूजा क्यों नहीं मनाता	*ध्रुबो ज्योति*	117
महिषासुर दिवस से संबंधित तथ्य		120
लेखक परिचय		123

भिक्खु बोधानंद और बहुजन सांस्कृतिक आंदोलन

मैं अपनी बात महान बहुजन चिंतक भिक्खु बोधानंद के एक उद्धरण के माध्यम से कहना चाहूंगा, लेकिन उसके पहले मुझे आपको भिक्खु बोधानंद के बारे में बताना पड़ेगा। यह कितनी अजीब बात है कि आज जनसामान्य और हमारा बौद्धिक समाज भी उनके नाम और वंचित समुदायों के लिए उनके द्वारा किए गए बहुआयामी कार्यों से अपरिचित है।

सन् 1874 में एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए बोधानंद बचपन में ही अनाथ हो गए थे। उन्हें काशी में रह रही उनकी विधवा मौसी ने पाला। काशी में एक विधवा के आंचल तले पल रहे बोधानंद ने ब्राह्मणवाद का कैसा अश्लील चेहरा देखा होगा, हम इसकी कल्पना भर कर सकते हैं। युवा होने पर वे ब्राह्मणवाद के कट्टर विरोधी बने तथा पिछड़ों और दलितों को इससे मुक्ति दिलाना उनका मकसद बन गया। 30 वर्ष की उम्र में 1904 में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उनके ही प्रभाव में डॉ. भीमराव आंबेडकर और राहुल सांकृत्यायन सरीखे लोग भी बौद्ध धर्म की ओर प्रेरित हुए। डॉ. आंबेडकर तो उनके प्रभाव में घंटों बैठना पसंद करते थे।[1]

भिक्खु बोधानंद के विचारों ने 1930 के दशक में न सिर्फ बौद्ध आंदोलन को एक नया मोड़ दिया, बल्कि अपने समय में उत्तर भारत की पिछड़ी और दलित जातियों के बीच एक व्यापक सांस्कृतिक-वैचारिक आंदोलन खड़ा कर दिया। लखनऊ के रिसालदार पार्क स्थित उनका बुद्ध विहार उस समय के प्रमुख बहुजन बुद्धिजीवियों का केंद्र और उनके विचारों का प्रसारण स्थल बन गया था।

भिक्खु बोधानंद ने एक किताब लिखी थी - 'मूल भारतवासी और आर्य'। इसका संपादन और प्रकाशन 1930 में चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने निषाद जाति के विधान पार्षद (उत्तर प्रदेश) रायसाहब बाबू रामचरण जी के आर्थिक सहयोग से किया था। वह किताब उस समय चले आंदोलन का आधार थी।

उस किताब में क्या था, उसका अनुमान आगे भिक्खु बोधानंद द्वारा की गई एक टिप्पणी से हो जाएगा। लेकिन उससे पहले देखें कि चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु को इस ग्रंथ के प्रकाशन के समय क्या आशंकाएं थीं। जिज्ञासु जी ने उस किताब के 'ग्रंथ परिचय' में लिखा था :

''*लोग कहते हैं कि ऐसा ग्रंथ देश में फूट पैदा करेगा। वे यदि यह जानते हुए ऐसा कहते हैं कि (इस ग्रंथ में कही गई) बात तो सच है, पर इस समय इसके कहने का*

अवसर नहीं था, तो मैं कहूंगा पाप से उनका अंतःकरण मलिन और मन अत्यंत दुर्बल है। सत्य प्रकट करने का कोई मुहूर्त नहीं हुआ करता। सत्य जिस समय प्रकट किया जाए, वही शुभ मुहूर्त है। जो सत्य सुनने से हिचकता है, वह पाप करता है, जो सत्य को फूट का हेतु समझता है वह न्याय का गला घोंटता है।...इस ग्रंथ के प्रकाशित होने पर स्वार्थी अत्याचारी लोग, जो सैकड़ों-हजारों वर्षों से हिंदू समाज को लूटकर मौजें उड़ा रहे हैं, क्रोधोन्मत्त और रोषांध होकर ग्रंथकार को क्लेश पहुंचाने की चेष्टा भी कर सकते हैं, इसके प्रकाशक और संपादक का भी यथासाध्य अमंगल कर सकते हैं।...इस ग्रंथ के लेखक और प्रकाशक आदि भी उन सब विपत्तियों के स्वागत के लिए तैयार हैं।''[2]

एक बड़े वैचारिक आंदोलन को खड़ा करनेवाली इस किताब का 1930 में प्रकाशित पहला संस्करण जल्दी ही समाप्त हो गया था। 75 वर्ष बाद इसका दूसरा संस्करण[3] 2005 में कांशीराम के अनुयायी अलीगढ़ निवासी एआर अकेला ने लोगों से दान लेकर प्रकाशित किया।

भिक्खु बोधानंद की उपरोक्त किताब विभिन्न ब्राह्मण-ग्रंथों के स्रोतों से प्रमाणपूर्वक साबित करती है कि असुर ही यहां के मूल निवासी हैं। वे ही आज के दलित, पिछड़े व आदिवासी हैं, जिनकी संस्कृति और सभ्यता को नष्ट कर द्विजों ने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आधिपत्य जमा लिया है। वे इन दमित समुदायों को साथ आकर द्विज/ब्राह्मणवाद से मुकाबला करने का आह्वान करते हैं। इस सांस्कृतिक आंदोलन के ये ऐसे दावे हैं जिनसे मनुवादी सबसे ज्यादा भयभीत और आक्रामक होते हैं।

इस किताब में समाहार की ओर बढ़ते हुए बोधानंद कहते हैं :

''*एक और बात, जो इस विषय में चर्चा होते समय प्रायः लोग कहा करते हैं कि जब आर्य लोग भारत में आकर यहां के मूल निवासियों से मिलजुल गए, तो फिर इस पुराने झगड़े को उठाकर अब इस संगठन के युग में, विरोध का बीज क्यों बोया जाता है?..इसके उत्तर में हमारा नम्र निवेदन है कि इस पुराने झगड़े को उठाकर विरोध का बीज बोने की न तो हमारी इच्छा है, न आवश्यकता है और न ही हमें अवकाश ही है। हम तो अहिंसा, समता और शांति के सिद्धांत को मानने वाले हैं, जिसमें विश्वबंधुत्व के मंत्र का पाठ पढ़ाया जाता है। किन्तु हम अपने पाठकों को सतर्क कर देना चाहते हैं कि विरोध का बीज बोने वाले हम नहीं हैं, दूसरे ही महात्मा हैं; और उन्हें आपको भली-भांति पहचान लेना चाहिए। प्रत्येक पुरुष जिसे इतिहास का थोड़ा भी ज्ञान है, जानता है कि वर्तमान में हिन्दू समाज में भारत के मूल निवासी जैन, बौद्ध तथा विदेशी आर्य, शक, हूण आदि सभी सम्मिलित हैं और उनकी सम्मिलित सभ्यता ही हिन्दू सभ्यता के नाम से पुकारी जाती है; परन्तु हमें दुःख और खेद के साथ प्रकाश करना पड़ता है कि कुछ दिनों से केवल आर्य सभ्यता, आर्य संस्कृति*

अथवा वैदिक सभ्यता, वैदिक संस्कृति के ही गीत गाकर उसकी प्रधानता और प्रमुखता स्थापित की जाती है तथा मूल भारतवासियों की गौरवपूर्ण सभ्यता और संस्कृति के होते हुए भी उसके अस्तित्व को मिटा देने की चेष्टा की जाती है।...इसी कारण विवश होकर चिरपराधीन भारत के मूल निवासियों की गौरवपूर्ण सभ्यता के विषय में इस पुस्तक को लिखना पड़ा। इसमें अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है कि भारत की मूलनिवासी जातियों का भी– जो आज पराधीन, गुलाम और शूद्र बना दी गईं– कुछ गौरव था, कोई सभ्यता थी और कोई संस्कृति थी।''[4]

बोधानंद की उपरोक्त बात, आज महिषासुर आंदोलन के समर्थकों के मन की भी बात है और आपके हाथों में जो संपादित किताब है, उसके लिए भी सही है। यह किताब प्रकारांतर से उन विचारों को आगे बढ़ाते हुए नये संदर्भों के साथ बर्बर, हिंसक मनुवादी संस्कृति व परंपराओं से छुटकारा पाकर करुणामयी समतामूलक बहुजन संस्कृति की स्थापना का आह्वान करती है। महास्थविर बोधानंद ने जहां अपनी बातों को स्थापित करने के लिए ब्राह्मण-ग्रंथों के अल्पज्ञात स्रोतों का इस्तेमाल किया था, वहीं यह किताब ब्राह्मणेत्तर स्रोतों, आदिवासी गाथाओं आदि को अपना मुख्य आधार बनाती है।

मैंने 2013 और 2014 में इसी विषय पर क्रमशः दो पुस्तिकाओं 'किसकी पूजा कर रहे हैं बहुजन?' और 'महिषासुर' का संपादन भी किया था। उनकी भी अधिकांश सामग्री इस पुस्तक में संकलित कर ली गई है।

अगर यह किताब किसी भी प्रकार से बहुजन समुदायों के सांस्कृतिक जागरण के काम आ सके तो इसके संपादक-लेखक अपने प्रयासों को सफल समझेंगे।

– प्रमोद रंजन

संदर्भ :

1- गुलाब सिंह, 'पूज्य भदंत बोधानंद महास्थविर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व', 'मूल भारतवासी और आर्य', लेखक, भिक्खु बोधानंद, आनंद साहित्य सदन, अलीगढ़, दूसरा संस्करण, 2005

2- चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु, 'ग्रंथ परिचय', 'मूल भारतवासी और आर्य', प्रथम संस्करण, प्रकाशन, अज्ञात, 1930

3- भिक्खु बोधानंद, 'मूल भारतवासी और आर्य', प्रकाशन, आनंद साहित्य सदन, अलीगढ़, दूसरा संस्करण, 2005

4- वही

प्रथम संस्करण के पुनर्मुद्रण पर :

कहा जाता है कि हिंदी किताबें बहुत कम बिकती हैं। लेकिन 'फारवर्ड प्रेस बुक्स' का अनुभव इस मामले में अलग रहा है।

हमारे देश में ज्ञान के क्षेत्र में कई नये सामाजिक समुदाय प्रवेश कर रहे हैं, लेकिन उन्हें संबोधित करने वाली सामग्री प्रकाशकों के पास नहीं हैं। हिंदी के पास वस्तुतः

'साहित्य' के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। 40-50 करोड़ लोगों की इस भाषा में न इतिहास लिखा जाता है, न समाजशास्त्र, न नृतत्वशास्त्र, न मनोविज्ञान, न ही संस्कृति-अध्ययन होता है। जो है, सो सब 'साहित्य' मात्र है। हिंदी के अधिकांश साहित्यकार प्रायः साहित्य के प्राध्यापक भी हैं, जिनकी पूरी भौतिक दुनिया और कल्पनालोक किसी ऐसे टापू पर अवस्थित है, जहां से छोटे शहर, कस्बे दिखाई तक नहीं देते। जबकि नये पाठकों का यह रेला उन्हीं छोटे शहरों, कस्बों से साहित्य, संस्कृति, इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र आदि ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में अपनी जड़ें तलाशता बौखलाया-सा बढ़ा चला आ रहा है।

मुझे लगता है कि यह किताब शायद उन नये पाठकों को संबोधित करने में किंचित सफल रही है। जून 2016 में इसकी 1100 प्रतियों का पहला संस्करण छपा था और महज चार महीने बाद पुनः इसकी 1100 प्रतियां छप रही हैं।

हिंदी में आ रहे इस नये पाठक समूह का स्वागत और शुक्रिया!

- **प्रमोद रंजन,**
अक्टूबर, 2016

दूसरे संस्करण पर :

इस कड़ी में अब रावण से जुड़े आयोजन भी होने लगे हैं। पिछले कुछ वर्षों में नागपुर में रावण पूजा, चेन्नई में रावणलीला और रायपुर में रावण जन्मोत्सव आदि कार्यक्रम हुए हैं। जिन लोगों का सांस्कृतिक-मानस सिर्फ वैदिक-पौराणिक कथाओं के आधार पर विकसित हुआ है, वे रावण के नाम पर हो रहे इन आयोजनों से महिषासुर शहादत दिवस से भी अधिक हतप्रभ हैं। दरअसल, पौराणिक वांङ्मय का सहारा लेकर रावण के बारे में जैसा विभ्रम फैलाया गया है, वैसा महिषासुर के संदर्भ में नहीं है। उन कथाओं में महिषासुर सीधे तौर पर खलनायक हैं, लेकिन कुछ पौराणिक गाथाओं में रावण को ब्राह्मण जाति का महाविद्वान बताया गया है। यहां उनके संदर्भों के विस्तार में जाने का अवकाश नहीं है। संक्षेप में इतना बताना पर्याप्त होगा कि बुद्ध समेत अनेक अनार्य नायकों के साथ यही करने की कोशिश की गई है। रावण ब्राह्मण नहीं, बल्कि अनार्य संस्कृति के नायक हैं। उनकी जड़ें उत्तर भारत की गोंड आदिवासी संस्कृति (पूनेम दर्शन) में हैं, जिसका विस्तार बाद में चलकर बौद्ध दर्शन में हुआ। रावण बहुजन समुदाय के पुरखा हैं। पुनेम दर्शन में मनुष्य की उत्पत्ति संबंधी जो व्याख्या है, उसके अनुसार ऋण और धन की संयुक्त सृजन शक्ति 'फरावेन सईलांगरा' (सल्लां गांगरा) ने सबसे पहले 'आंदि रावेन पेरियार' (नर) और 'सुकमा पेरी' (मादा) को उत्पन्न किया। इस नर-मादा से आगे चलकर गोंड समुदाय का विकास हुआ। इस दर्शन के अनुसार समाज को दिशा देने वाले अनेक 'शंभू शेक' और 'लिंगो' हुए हैं। इनमें से एक लिंगो का भी नाम रावेन है। प्रसंगवश यह जान लेना भी उपयोगी होगा कि

अंतिम शंभु जोड़ी का नाम 'शंभु-पार्बती' है। रावण/रावेन नाम की एक भरी-पूरी परंपरा पुनेम दर्शन में है। 'लंकापति' रावण भी उन्हीं में से एक हैं। अनार्य संस्कृति में रावण के स्थान के बारे में आदिवासी संस्कृति के अध्येता आचार्य मोतीरावण कंगाली और तिरूमाय चंद्रलेखा कंगाली ने उल्लेखनीय काम किया है। उनके अनुसार रावण मध्यभारत के शासक थे, न कि लंका के। लंका की कहानी उनके चरित्र को विकृत करने के लिए गढ़ी गई है।

कंगाली दंपत्ति के इन अतुल्य शोध-कार्यों की ओर हम हिंदी भाषी लोगों का ध्यान पहली बार समाजशास्त्री संजय जोठे ने दिलाया है। उनका इससे संबंधित वृहत् शोध-आलेख मैंने इस किताब के इस संस्करण के साथ ही प्रकाशित हुई नई किताब 'महिषासर : मिथक व परंपराएं' में संकलित किया है।

....

इस वर्ष भी कई स्थानों पर हिंदूवादी संगठनों ने देवी दुर्गा के लिए सोशल मीडिया पर अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करने का आरोप लगाकर दलित-बहुजन पर मुकदमे दर्ज करवाए हैं। उनका आरोप है कि उन शब्दों से उनकी भावनाएं आहत हुई हैं।

दुर्गा पूजा के अवसर पर दुर्गासप्तशती के जिन श्लोकों का पाठ होता है, उनमें बहुजन समुदायों में पुरखा के रूप में पूजे जाने वाले महिषासुर के बारे में अशोभनीय बातें होती हैं। उन्हें अप्राकृतिक यौनाचार की पैदाइश बताया जाता है। कहा जाता है कि 'भैंस के गर्भ से पैदा हुआ वह असुर पशुओं से भी नीच है।'

सोशल मीडिया पर दलित-बहुजन युवाओं ने देवी दुर्गा के बारे में जो लिखा है, वह कथानक भी अनेक आदिवासी समुदायों की कथाओं में आता है। क्या मुकदमा दर्ज करवाने वाले हिंदूवादी संगठन बताएंगे कि महिषासुर, रावण, मेघनाथ आदि का अपमान करने से आदिवासी समुदायों की भावनाएं आहत होती हैं या नहीं?

सवाल यह भी है कि वे कौन से हिंदू हैं, जिनकी भावनाएं सोशल मीडिया पर कही जा रही बातों से आहत हो जा रही हैं? क्या उनके विचार में आदिवासी, दलित और ओबीसी हिंदू नहीं हैं? शायद नहीं। वे तो विधर्मी, अंत्यज, शूद्र हैं। अनेक हिंदू धर्मशास्त्र कहते हैं कि सभी शूद्र-अतिशूद्र वर्णसंकर हैं। वेश्याओं की औलाद हैं। ढोल हैं, ताड़न के अधिकारी हैं। जिन धर्मग्रंथों में यह लिखा है, उनका वे सड़कों पर खुलेआम, लाऊडस्पीकर लगाकर पाठ करते हैं। इन ग्रंथों को राष्ट्रीय ग्रंथ बनाने की मांग भी यही हिंदूवादी संगठन करते रहते हैं। इससे किसी की भावना आहत होती है या नहीं?

इन्हीं कारणों से छत्तीसगढ़ के बस्तर में मार्च, 2016 में आदिवासियों ने भी महिषासुर का अपमान करने वालों पर 'भावनाएं आहत करने' का मुकदमा दर्ज करवाया। इस मामले में एक हिंदूवादी राजनीतिक पार्टी के जुड़े आरोपी काफी समय

तक जेल में भी रहे। इस वर्ष भी छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश और झारखंड में कई स्थानों पर अनेक पंचायतों के जनप्रतिनिधियों ने स्थानीय अधिकारियों को ज्ञापन सौंप कर रावण व महिषासुर के अपमान के खिलाफ रोष प्रकट हुए कहा है कि इससे उनकी 'भावनाएं आहत होती हैं'।

भारतीय समाज की इन खाइयों को बहुसांस्कृतिक और बहुलतावादी देश होने के जुमलों से नहीं पाटा जा सकता। आवश्यक यह है कि हिंसा और दमन की संस्कृति का खात्मा हो। हमारे पर्व-त्योहार और प्रतीक भी शांति और समरसता को प्रकट करें। हिंसा और वर्चस्व के उत्सवीकरण पर प्रतिबंध लगे।

अभी इतना ही। समानता के लिए संघर्ष की मशाल जलती रहे!

....

इस पुस्तक का पहला संस्करण जून, 2016 में निकला था। अक्टूबर, 2016 में यह 'पुनर्मुद्रित' हुई थी। लेकिन हमने उसे भूलवश 'दूसरा संस्करण' कहा था, जबकि वह तकनीकी रूप से 'पुनर्मुद्रण' था। सरकारी नियमों के अनुसार 'संस्करण' उसे कहते हैं, जिसके लिए नया आइएसबीएन नंबर लिया गया हो। इस 'संस्करण' के लिए नया नंबर लिया गया है, इसलिए यह पुस्तक का 'दूसरा संस्करण' हुआ। पुस्तक को अधिक पठनीय और उपयोगी बनाने के लिए कवर-डिजाइन समेत अनेक परिवर्तन किए गए हैं। कई नये लेख भी जोड़े गए हैं। उम्मीद है पाठकों को यह संस्करण अधिक पसंद आएगा। इसे तैयार करने में डॉ. सिद्धार्थ, पंकज इंकलाबी और राजन कुमार ने बहुत मदद की। इन सबका आभार।

- **प्रमोद रंजन,**
नवंबर, 2017

एक सांस्कृतिक युद्ध

प्रमोद रंजन

महिषासुर के नाम से शुरू हुआ यह आंदोलन क्या है, इसकी आवश्यकता क्या है, इसके निहितार्थ क्या हैं? ये कुछ सवाल हैं, जो बाहर से हमारी तरफ उछाले जाएंगे, लेकिन इसी कड़ी में एक बेहद महत्त्वपूर्ण सवाल होगा, जो हमें खुद से पूछना होगा कि हम इस आंदोलन को किस दृष्टिकोण से देखें? यानी, सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि हम एक मिथकीय नायक पर कहां खड़े होकर नजर डाल रहे हैं। एक महान सांस्कृतिक युद्ध में छलांग लगाने से पूर्व हमें अपने लांचिंग पैड की जांच ठीक तरह से कर लेनी चाहिए। हमारे पास जोतिबा फुले, डॉ. आंबेडकर और रामासामी पेरियार की तेजस्वी परंपरा है, जिसने आधुनिक काल में मिथकों के वैज्ञानिक अध्ययन की जमीन तैयार की है। महिषासुर को अपना नायक घोषित करनेवाले इस आंदोलन को भी खुद को इसी परंपरा से जोड़ना होगा। जाहिर है, किसी भी प्रकार के धार्मिक कर्मकांड से तो इसे दूर रखना ही होगा, साथ ही मार्क्सवादी प्रविधियां भी इस आंदोलन में काम न आएंगी। न सिर्फ सिद्धांत के स्तर पर, बल्कि ठोस, जमीनी स्तर पर भी इस आंदोलन को हर प्रकार के कर्मकांडियों के लिए समान रूप से अपने दरवाजे कड़ाई से बंद करने होंगे। आंदोलन जैसे-जैसे गति पकड़ता जाएगा, वे चोर दरवाजों से इसमें प्रवेश के लिए उत्सुक होंगे।

सांस्कृतिक गुलामी क्रमशः सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गुलामी को मजबूत करती है। उत्तर भारत में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक गुलामी के विरुद्ध तो संघर्ष हुआ, लेकिन सांस्कृतिक गुलामी अभी भी लगभग अछूती रही है। जो संघर्ष हुए भी, वे प्रायः धर्मसुधार के लिए हुए अथवा उनका दायरा ब्राह्मणों-द्विजों में मौजूद सामाजिक विकृतियों को कम करने तक ही सीमित रहा। मनुवाद की नाभि पर प्रहार करनेवाला कोई आंदोलन नहीं हुआ। महिषासुर आंदोलन की महत्ता इसी में है कि यह उसकी जीवन-शक्ति पर चोट करने की क्षमता रखता है। इस आंदोलन के मुख्य रूप से दो दावेदार हैं– एक तो हिंदू धर्म के भीतर का सबसे बड़ा तबका, जिसे हम आज 'ओबीसी' के नाम से जानते हैं, दूसरा दावेदार हिंदू धर्म से बाहर है - आदिवासी। अगर यह आंदोलन इसी गति से आगे बढ़ता रहा तो हिंदू धर्म पर मनुवादियों के वर्चस्व को भीतर और बाहर, दोनों ओर से करारी चोट देगा। इस आंदोलन का एक फलितार्थ यह भी निकलेगा कि मनुवाद द्वारा दमित अन्य सामाजिक समूह भी धर्मग्रंथों के पाठों का विखंडन आरंभ करेंगे और अपने पाठ निर्मित करेंगे। इन नए पाठों की आवाजें जितनी मुखर होंगी, बहुजन समुदायों की सांस्कृतिक गुलामी की जंजीरें उतनी ही तेजी से टूटेंगी।

(अक्टूबर, 2013 में प्रकाशित पुस्तिका 'किसकी पूजा कर रहे हैं बहुजन?' का संपादकीय)

खण्ड 1

पुनर्पाठ

किसकी पूजा कर रहे हैं बहुजन?

प्रेमकुमार मणि

शक्ति के विविध रूपों, यथा योग्यता, बल, पराक्रम, सामर्थ्य व ऊर्जा की पूजा सभ्यता के आदिकाल से होती रही है, न केवल भारत में, बल्कि दुनिया के तमाम इलाकों में। दुनिया की पूरी मिथॉलॉजी शक्ति के प्रतीक देवी-देवताओं के तानों-बानों से ही बुनी गई है। आज भी शक्ति का महत्त्व निर्विवाद है। अमेरिका की दादागिरी पूरी दुनिया में चल रही है, तो इसलिए कि उसके पास सबसे अधिक सामरिक शक्ति और संपदा है। जिसके पास ऐटम बम नहीं हैं, उसकी बात कोई नहीं सुनता, उसकी आवाज़ का कोई मूल्य नहीं है। गीता उसकी सुनी जाती है, जिसके हाथ में सुदर्शन हो। उसी की धौंस का मतलब है और उसी की विनम्रता का भी। कवि दिनकर ने लिखा हैः '*क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो, उसको क्या जो दंतहीन, विषहीन, विनीत, सरल हो।*'

दंतहीन और विषहीन सांप सभ्यता का स्वांग भी नहीं कर सकता। उसकी विनम्रता, उसका क्षमाभाव अर्थहीन है। बुद्ध ने कहा है, जो कमजोर है, वह ठीक रास्ते पर नहीं चल सकता। उनकी अहिंसक सभ्यता में भी फुफकारने की छूट मिली हुई थी। जातक में एक कथा में एक उत्पाती सांप के बुद्धानुयायी हो जाने की चर्चा है। बुद्ध का अनुयायी हो जाने पर उसने लोगों को काटना-डसना छोड़ दिया। लोगों को जब यह पता चल गया कि इसने काटना-डसना छोड़ दिया है, तो उसे ईंट-पत्थरों से मारने लगे। इस पर भी उसने कुछ नहीं किया। ऐसे लहूलुहान घायल अनुयायी से बुद्ध जब फिर मिले तो द्रवित हो गए और कहा, '*मैंने काटने के लिए मना किया था मित्र, फुफकारने के लिए नहीं। तुम्हारी फुफकार से ही लोग भाग जाते।*'

भारत में भी शक्ति की आराधना का पुराना इतिहास रहा है, लेकिन यह इतिहास बहुत सरल नहीं है। अनेक जटिलताएँ और उलझाव हैं। सिंधु घाटी की सभ्यता के समय शक्ति का जो प्रतीक था, वही आर्यों के आने के बाद नहीं रहा। पूर्व वैदिक काल, प्राक् वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल में शक्ति के केंद्र अथवा प्रतीक

बदलते रहे। आर्य सभ्यता का जैसे-जैसे प्रभाव बढ़ा उसके विविध रूप हमारे सामने आए। इसीलिए आज का हिंदू यदि शक्ति के प्रतीक रूप में दुर्गा या किसी देवी को आदि और अंतिम मानकर चलता है, तब वह बचपना करता है। सिंधु घाटी की जो अनार्य अथवा द्रविड़ सभ्यता थी, उसमें प्रकृति और पुरुष शक्ति के समन्वित प्रतीक माने जाते थे। शांति का जमाना था। मार्क्सवादियों की भाषा में आदिम साम्यवादी समाज के ठीक बाद का समय। सभ्यता का इतना विकास तो हो ही गया था कि पकी ईंटों के घरों में लोग रहने लगे थे और स्नानागार से लेकर बाज़ार तक बन गए थे। तांबई रंग और अपेक्षाकृत छोटी नासिकावाले इन द्रविड़ों का नेता ही शिव रहा होगा। अल्हड़ अलमस्त किस्म का नायक। इन द्रविड़ों की सभ्यता में शक्ति की पूजा का कोई माहौल नहीं था। यों भी उन्नत सभ्यताओं में शक्ति पूजा की चीज़ नहीं होती।

शक्ति पूजा का माहौल बना आर्यों के आगमन के बाद। सिंधु सभ्यता के शांत-सभ्य गौ-पालक (ध्यान दीजिए शिव की सवारी बैल और बैल की जननी गाय) द्रविड़ों को अपेक्षाकृत बर्बर अश्वारोही आर्यों ने तहस-नहस कर दिया और पीछे धकेल दिया। द्रविड़ आसानी से पीछे नहीं आए होंगे। भारतीय मिथकों में जो देवासुर संग्राम है, वह इन द्रविड़ और आर्यों का ही संग्राम है। आर्यों का नेता इंद्र था। शक्ति का प्रतीक भी इंद्र ही था। वैदिक ऋषियों ने इस देवता, इंद्र की भरपूर स्तुति की है। तब आर्यों का सबसे बड़ा देवता, सबसे बड़ा नायक इंद्र था। वह वैदिक आर्यों का हरक्युलस था। तब किसी देवी की पूजा का कोई वर्णन नहीं मिलता। आर्यों का समाज पुरुषप्रधान था। पुरुषों का वर्चस्व था। द्रविड़ जमाने में प्रकृति को जो स्थान मिला था, वह लगभग समाप्त हो गया था। आर्य मातृभूमि को नहीं, पितृभूमि को नमन करनेवाले थे। आर्यप्रभुत्व वाले समाज में पुरुषों का महत्त्व लंबे अर्से तक बना रहा। द्रविड़ों की ओर से इंद्र को लगातार चुनौती मिलती रही। गौ-पालक कृष्ण का इतिहास से यदि कुछ संबंध बनता है तो लोकोक्तियों के आधार पर उसके सांवलेपन से द्रविड़ नायक ही की तस्वीर बनती है। इस कृष्ण ने भी इंद्र की पूजा का सार्वजनिक विरोध किया। उसकी जगह अपनी सत्ता स्थापित की। शिव को भी आर्य समाज ने प्रमुख तीन देवताओं में शामिल कर लिया। इंद्र की तो छुट्टी हो ही गई। भारतीय जनसंघ की कट्टरता से भारतीय जनता पार्टी की सीमित उदारता की ओर और अंततः एनडीए का एक ढाँचा, आर्यों का समाज कुछ ऐसे ही बदला। फैलाव के लिए उदारता का यह स्वांग ज़रूरी होता है। पहले जार्ज और फिर शरद यादव की तरह शिव को संयोजक बनाना ज़रूरी था, क्योंकि इसके बिना निष्कंटक राज नहीं बनाया जा सकता था। आर्यों ने अपनी पुत्री पार्वती से शिव का विवाह कर सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की। जब दोनों पक्ष मज़बूत हों तो सामंजस्य और समन्वय होता है। जब एक पक्ष कमज़ोर हो जाता है तो दूसरा पक्ष संहार करता

है। आर्य और द्रविड़ दोनों मजबूत स्थिति में थे। दोनों में सामंजस्य ही संभव था। शक्ति की पूजा का सवाल कहाँ था? शक्ति की पूजा तो संहार के बाद होती है। जो जीत जाता है, वह पूज्य बन जाता है, जो हारता है वह पूजक, हालांकि पूजा का सीमित भाव सभ्य समाजों में भी होता है, लेकिन वह नायकों की होती है, शक्तिमानों की नहीं। शक्तिमानों की पूजा कमज़ोर, काहिल और पराजित समाज करता है। शिव की पूजा नायक की पूजा है। शक्ति की पूजा वह नहीं है। मिथकों में जो रावण-पूजा है, वह शक्ति की पूजा है। ताकत की पूजा, महाबली की वंदना।

लेकिन देवी के रूप में शक्ति की पूजा का क्या अर्थ है? अर्थ गूढ़ भी है और सामान्य भी। पूरबी समाज में मातृसत्तात्मक समाजव्यवस्था थी। पश्चिम के पितृसत्तात्मक समाजव्यवस्था के ठीक उलट। पूरब सांस्कृतिक रूप से बंग भूमि है, जिसका फैलाव असम तक है। यही भूमि शक्ति देवी रूप की उपासक है। शक्ति का एक अर्थ भग अथवा योनि भी है। योनि प्रजनन शक्ति का केंद्र है। प्राचीन समाजों में भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए जो यज्ञ होते थे, उसमें स्त्रियों को नग्न करके घुमाया जाता था। पूरब में स्त्री पारंपरिक रूप से शक्ति की प्रतीक मानी जाती रही है। इस परंपरा का इस्तेमाल ब्राह्मणों ने अपने लिए सांस्कृतिक रूप से किया। यह गैर-ब्राह्मणों को ब्राह्मण अथवा आर्य संस्कृति में शामिल करने का सोचा-समझा अभियान था। आर्य संस्कृति का इसे पूरब में विस्तार भी कह सकते हैं। विस्तार के लिए यहां की मातृसत्तात्मक संस्कृति से समरस होना ज़रूरी था। सांस्कृतिक रूप से यह भी समन्वय था। पितृसत्तात्मक संस्कृति से मातृसत्तात्मक संस्कृति का समन्वय। आर्य संस्कृति को स्त्री का महत्त्व स्वीकारना पड़ा, उसकी ताकत रेखांकित करनी पड़ी। देव की जगह देवी महत्त्वपूर्ण हो गई। शक्ति का यह पूर्व-रूप (पूरबी रूप) था, जो आर्य संस्कृति के लिए अपूर्व (पहले न हुआ) था।

महिषासुर और दुर्गा का मिथक क्या है?

लेकिन महिषासुर और दुर्गा के मिथक हैं, वे क्या है? दुर्भाग्यपूर्ण है कि अब तक हमने अभिजात ब्राह्मण नज़रिए से ही इस पूरी कथा को देखा है। मुझे स्मरण है 1971 में भारत-पाक युद्ध और बांग्लादेश के निर्माण के बाद तत्कालीन जनसंघ नेता अटलबिहारी वाजपेयी ने तब की प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को अभिनव चंडी दुर्गा कहा था। तब तक कम्युनिस्ट नेता डांगे सठियाए नहीं थे। उन्होंने इसका तीखा विरोध करते हुए कहा था कि 'अटल बिहारी नहीं जान रहे हैं कि वह क्या कह रहे हैं और श्रीमती गांधी नहीं जान रहीं हैं कि वह क्या सुन रही हैं। दोनों को यह जानना चाहिए कि चंडी दुर्गा दलित और पिछड़े तबकों की संहारक थी।' डांगे के वक्तव्य के बाद इंदिरा गांधी ने संसद में ही कहा था, 'मैं केवल इंदिरा हूं और यही रहना चाहती हूँ।'

महिषासुर और दुर्गा की कथा का शूद्र पाठ (और शायद शुद्ध भी) इस तरह है।

महिष का मतलब भैंस होता है। महिषासुर यानी महिष का असुर। असुर मतलब सुर से अलग। सुर का मतलब देवता। देवता मतलब ब्राह्मण या सवर्ण। सुर कोई काम नहीं करते। असुर मतलब, जो काम करते हों। आज के अर्थ में कर्मी। महिषासुर का अर्थ होगा भैंस पालनेवाले लोग अर्थात् भैंसपालक। दूध का धंधा करनेवाला। ग्वाला। असुर से अहुर फिर अहीर भी बन सकता है। महिषासुर यानी भैंसपालक बंगदेश के वर्चस्व प्राप्त जन रहे होंगे। नस्ल होगी द्रविड़। आर्य संस्कृति के विरोधी भी रहे होंगे। आर्यों को इन्हें पराजित करना था। उन लोगों ने दुर्गा का इस्तेमाल किया। बंग देश में वेश्याएँ दुर्गा को अपने कुल का बताती हैं। दुर्गा की प्रतिमा बनाने में आज भी वेश्या के घर से थोड़ी मिट्टी ज़रूर मंगाई जाती है। भैंसपालक के नायक महिषासुर को मारने में दुर्गा को नौ रात लग गईं। जिन ब्राह्मणों ने उन्हें भेजा था, वे सांस रोककर नौ रात तक इंतजार करते रहे। यह कठिन साधना थी। बल नहीं तो छल। छल का बल। नौवीं रात को दुर्गा को सफलता मिल गई, उसने महिषासुर का वध कर दिया। खबर मिलते ही आर्यों (ब्राह्मणों) में उत्साह की लहर दौड़ गई। महिषासुर के लोगों पर वह टूट पड़े और उनके मुंड (मस्तक) काटकर उन्होंने एक नई तरह की माला बनाई। यही माला उन्होंने दुर्गा के गले में डाल दी। दुर्गा ने जो काम किया, वह तो इंद्र ने भी नहीं किया था। पार्वती ने भी शिव को पटाया भर था, संहार नहीं किया था। दुर्गा ने तो अजूबा किया था। वह सबसे महत्त्वपूर्ण थीं। सबसे अधिक धन्य, शक्ति का साक्षात् अवतार!

(हिंदी के प्रतिनिधि कथाकार, चिंतक व राजनीतिकर्मी प्रेमकुमार मणि का यह लेख महिषासुर शहादत आंदोलन का प्रस्थान बिंदु है। उन्होंने यह लेख लगभग एक दशक पूर्व दैनिक हिंदुस्तान के पटना के संस्करण के लिए लिखा था। उसके बाद यह पटना से प्रकाशित 'जनविकल्प' के अक्टूबर, 2007 अंक में प्रकाशित हुआ। लेकिन उसके बावजूद यह लेख 'फारवर्ड प्रेस' के अक्टूबर, 2011 अंक में प्रकाशित होने तक अलक्षित ही रहा। 'फारवर्ड प्रेस' में प्रकाशित होने के बाद इस लेख पर दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय जेएनयू के छात्रों के नजर गई, उसके बाद से उत्तर भारत में विशद पैमाने पर महिषासुर विषयक आंदोलन का जन्म हुआ।)

हत्याओं का जश्न क्यों?

प्रेमकुमार मणि

जब असुर एक प्रजाति है तो उसकी हार या उसके नायक की हत्या का उत्सव किस सांस्कृतिक मनोवृत्ति का परिचायक है? अगर कोई गुजरात नरसंहार का उत्सव मनाए या सेनारी में दलितों की हत्या का उत्सव, भूमिहारों की हत्या का उत्सव तो कैसा लगेगा? माना कि असुरों के नायक महिषासुर की हत्या दुर्गा ने की और असुर परास्त हो गए तो इसमें प्रत्येक वर्ष उत्सव मनाने की क्या जरूरत है? आप इसके माध्यम से अपमानित ही तो कर रहे हैं।

महिषासुर की शहादत दिवस के पीछे किसी के अपमान की मानसिकता नहीं है। इसके बहाने हम चिंतन कर रहे हैं, आखिर हम क्यों हारे? इतिहास में तो हमारे नायक की छलपूर्वक हत्या हुई, परंतु हम आज भी छले जा रहे हैं। दरअसल, हम इतिहास से सबक लेकर अपने वर्तमान को उठाना चाहते हैं। महिषासुर शहादत दिवस के पीछे किसी को अपमानित करने का लक्ष्य नहीं हैं।

हमारे सारे प्रतीकों को लुप्त किया जा रहा है। यह तो इन्हीं के स्रोतों से पता चला है कि एकलव्य अर्जुन से ज्यादा कुशल धनुर्धर था। तो अर्जुन के नाम पर ही पुरस्कार क्यों दिए जा रहे हैं, एकलव्य के नाम पर क्यों नहीं? इतिहास में हमारे नायकों को पीछे कर दिया गया। हमारे प्रतीकों को अपमानित किया जा रहा है। हमारे नायकों के छलपूर्वक अंगूठा और सिर काट लेने की प्रथा पर हम सवाल करना चाहते हैं। इन नायकों का अपमान हमारा अपमान है।

आजकल गंगा को बचाने की बात हो रही है। तो इसका तात्पर्य यह थोड़े ही है कि नर्मदा, गंडक या अन्य नदियों को तबाह किया जाए। अगर गंगा के किनारे जीवन बसता है, तो नर्मदा, गंडक आदि नदियों के किनारे भी तो उसी तरह जीवन है। गंगा को स्वच्छ करना है, तो इसका तात्पर्य यह थोड़े हुआ कि नर्मदा को गंदा कर देना है। हम तो एक पोखर को भी उतना ही जरूरी मानते हैं, जितना कि गंगा को। गाय पूजनीय है तो इसका अर्थ यह थोड़े निकला कि भैंस को मारो। जितनी महत्त्वपूर्ण गाय है उतनी ही महत्त्वपूर्ण भैंस भी है, हालांकि भैंस का भारतीय समाज में कुछ

ज्यादा ही योगदान है। भौगोलिक कारणों से भैंस से ज्यादा परिवारों का जीवन चलता है। अगर गाय की पूजा हो सकती है तो उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण भैंस की पूजा क्यों नहीं? भैंस को शेर मार रहा है और उसे देखकर उत्सव मना रहे हैं! क्या कोई शेर का दूध पीता है? शेर को तो बाड़े में ही रखना होगा। नहीं तो आबादी तबाह होगी। आपका यह कैसा प्रतीक है? प्रतीकों के रूप में क्या कर रहे हैं आप?

यह किस संस्कृति की निशानी है? पारिस्थितिकी संतुलन के लिए प्रकृति में उसकी भी जरूरत है, परंतु खुली आबादी में उसे खुला छोड़ दिया तो तबाही मचा देगा।

हम अपने मिथकीय नायकों के माध्यम से अपने पौराणिक इतिहास से जुड़ रहे हैं। हमारे नायकों के अवशेषों को नष्ट किया गया है। बुद्ध ने क्या किया था कि उन्हें भारत से भगा दिया? अगर राहुल सांकृत्यायन और डॉ. आंबेडकर उन्हें जीवित करते हैं तो यह अनायास तो नहीं ही है। महिषासुर के बहाने हम इसके और भीतर जा रहे हैं। अगर महिषासुर लोगों के दिलों को छू रहा है तो इसमें जरूर कोई बात तो होगी। यह पिछड़े तबकों का नवजागरण है। हम अपने आपको जगा रहे हैं। हम अपने प्रतीकों के साथ उठ खड़ा होना चाहते हैं। दूसरे को तबाह करना हमारा लक्ष्य नहीं हैं। हमारा कोई संकीर्ण दृष्टिकोण नहीं है। यह एक राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति का काम है। एक महत्त्वपूर्ण मानवीय काम।

महिषासुर दिवस मनाने से अगर आपकी धार्मिक भावनाएं आहत हो रही हैं तो हों। आपकी इस धार्मिक तुष्टि के लिए हम शूद्रों को अछूत, स्त्रियों को सती प्रथा में नहीं झोंकना चाहते। हम आपकी इस तुच्छ धार्मिकता का विरोध करेंगे। ब्राह्मण को मारने से दंड और दलित को मारने से मुक्ति, यह कहां का धर्म है? यह आपका धर्म हो सकता है, हमारा नहीं। हमें तो जिस प्रकार गाय में जीवन दिखाई देता है, उसी प्रकार सूअर में भी। हम धर्म को बड़ा रूप देना चाहते हैं। इसे गाय से भैंस तक ले जाना चाहते हैं। हम तो चाहते हैं कि एक मुसहर का सूअर भी न मरे। हम आपसे ज्यादा धार्मिक हैं।

आपका धर्म तो पिछड़ों को अछूत मानने में है तो क्या हम आपकी धार्मिक तुष्टि के लिए अपने आपको अछूत मानते रहें? संविधान सभा में ज्यादातर जमींदार कह रहे थे कि जमींदारी प्रथा समाप्त हो जाने से हमारी जमींने चली जाएंगी तो हम मारे जाएंगे। तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि जमींदारी प्रथा जारी रखनी चाहिए। दरअसल, आपका निहित स्वार्थ हमारे स्वार्थों से टकरा रहा है। वह हमारे नैसर्गिक स्वार्थों को भी लील रहा है। आपका स्वार्थ और हमारा स्वार्थ अलग रहा है। हम इसमें संगति बैठाना चाहते हैं।

दुर्गा का अभिनंदन और हमारी हार का उत्सव आपके सांस्कृतिक सुख के लिए है। लेकिन आपका सांस्कृतिक सुख तो सती प्रथा, वर्ण व्यवस्था, छूआछूत, कर्मकांड

आदि में है, तो क्या हम आपकी संतुष्टि के लिए अपना शोषण होने दें? आपकी धार्मिकता में खोट है।

हम तो वस्तुतः जानना चाहते हैं कि हमारा इतिहास हो क्या गया। हम इतने दरिद्र क्यों पड़े हुए हैं।

मौजूदा प्रधानमंत्री गीता को भेंट में देते हैं। गीता वर्णव्यवस्था को मान्यता देती है। हमारे पास तो बुद्धचरित और त्रिपिटक भी है। हम सम्यक समाज की बात कर रहे हैं। आप धर्म के नाम पर वर्चस्व और असमानता की राजनीति कर रहे हैं, जबकि हमारा यह संघर्ष बराबरी के लिए है।

(जितेन्द्र यादव से बातचीत पर आधारित, 'महिषासुर', 2014 पुस्तिका से)

दशहरे के त्योहार पर

प्रेमकुमार मणि

दशहरे का त्योहार आ गया है और साथ ही शक्ति यानि दुर्गा की उपासना के लिए भारत का एक बड़ा हिस्सा उमड़ पड़ा है। दुर्गा की उपासना के साथ असुरों की हार की एक जादुई कहानी है, जो हम बचपन से देखते-सुनते आ रहे हैं। दुर्गा अपने स्तुत्य रूप में महिषासुर मर्दिनी हैं, महिषासुर को पराजित करनेवाली देवी।

असुरों के बारे में हमारी जानकारी बहुत कम है। युवा लेखक रणेंद्र ने इसे लेकर एक उपन्यास लिखा है, 'ग्लोबल गांव के देवता'। यह उपन्यास हमें थोड़ी-सी जानकारी देता है। सबसे बढ़कर असुरों के इतिहास पर सोचने के लिए हमें उत्साहित करता है। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि देवासुर संग्राम से लेकर महिषासुर मर्दन तक में वर्णित असुर आज भी दस हजार से कुछ कम की संख्या में जनजाति के रूप में झारखंड राज्य में रहते हैं। ये वे लोग हैं, जिन्होंने धातुओं की खोज की थी और पारंपरिक रूप से लोहा बनाते रहे हैं। जैसा कि इतिहास ने गैर-आर्यों अथवा आर्येतर जातियों के बारे में हमें जानकारी दी है, ये अनासा और ताम्रवर्णी नहीं, बल्कि ज्यादातर गोरे रंग और लंबी काया के होते हैं। संभवतः ये वे लोग हैं जिन्होंने मुहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की सभ्यता की नींव रखी थी और आर्यों से लड़ते हुए लगातार पीछे हटते गए। इनका अपराध बस इतना था कि इन्होंने आर्यों के समक्ष समर्पण से इनकार कर दिया। इनका प्रतिरोध लगातार बना रहा। हालांकि असुरों ने इसकी बड़ी कीमत चुकाई।

महाभारत कथा की देवयानी असुर कन्या थी– असुरों के पुरोहित शुक्राचार्य की पुत्री, जिसने ययाति से विवाह किया था। ययाति की दूसरी पत्नी शर्मिष्ठा भी असुरों के राजा वृषपर्व की बेटी थी और इस तरह तमाम कुरुवंशी और यदुवंशी इन असुर माताओं की संतानें हैं। इनके सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन होना अभी शेष है, लेकिन 19वीं सदी के सामाजिक क्रांतिकारी महात्मा जोतिबा फुले ने अपनी पुस्तक 'गुलामगिरी' में असुरों की विस्तार से चर्चा की है। उम्मीद की जानी चाहिए कि अब

लोग प्रागितिहास काल अथवा पौराणिक विवादों के चुनौतीपूर्ण तथ्यों का उद्‌भेदन कर सकेंगे और नए अर्थ ढूंढ पाएंगे। हमें यह स्वीकार होगा कि इतिहास और पौराणिकता पर वर्चस्वप्राप्त और वंचित तबके की एक ही व्याख्या नहीं होती। उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' का एक पात्र रुमझुम असुर एक जगह कहता है, 'हम वैदिक काल के सप्तसिंधु इलाके से लगातार पीछे हटते हुए आजमगढ़, शाहाबाद, आरा, गया, राजगीर होते हुए इस वन प्रांतर, कीकट, पौंड्रिक, कोकराह या चुटिया नागपुर पहुंचे। हजारों साल में कितने इंद्रों, कितने पांडवों, कितने सिंगबोगा ने कितनी-कितनी बार हमारा विनाश किया, कितने गढ़ ध्वस्त किए, उसकी कोई गणना किसी इतिहास में दर्ज नहीं है। केवल लोक कथाओं और मिथकों में हम जिंदा हैं।

रुमझुम कहता है, 'हमारे पूर्वजों ने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो उन्हें राक्षस कहा गया। खेती के फैलाव के लिए जंगलों के काटने-जलाने का विरोध किया तो दैत्य कहलाए। उन पर आक्रमण हुए और उन्हें लगातार खदेड़ा गया, लेकिन 20वीं सदी की हार हमारी असुर जाति की अपने पूरे इतिहास में सबसे बड़ी हार थी। इस बार कथा- कहानी वाले सिंगबोगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्टरियों में बना लोहा, कुदाल, खुरपी, गैंता, खंती सुदूर हाटों तक पहुंच गए। हमारे गलाए लोहे के औजारों की पूछ कम हो गई। लोहा गलाने का हजारों साल का हमारा हुनर धीरे-धीरे खत्म हो गया। हमारी बेटियां और हमारी भूमि हमारे हाथों से निकलती जा रही हैं। हम यहां से कहां जाएंगे? यह हमारी समझ में नहीं आ रहा।' और इसी रुमझुम असुर के पूर्वज महिष-असुर के मर्दन का उत्सव मनाने का त्योहार यह दशहरा है। जगह-जगह स्थापित पूजा पंडालों में मूर्तियां हैं। असुर राजा की भैंस पर दुर्गा का सिंह प्रभावी है। दुर्गा के गले में मुंडमाल है। मुझे बार-बार प्रतीत होता है कि दुर्गा स्वयं असुर कुल से थीं और आर्यों ने इनका इस्तेमाल किया। सप्तसिंधु प्रदेश की उस आरंभिक लड़ाई में जब आर्य और दास अथवा दस्यु लड़े थे तब निर्णायक लड़ाई वृत्र और इंद्र के बीच थी। दिवोदास नाम का एक दास इंद्र से जा मिला था और नतीजन वृत्र की हार हुई थी। दुर्गा की कहानी भी इससे कुछ मिलती-जुलती है। शत्रु पक्ष में जाकर या उनके द्वारा इस्तेमाल होकर दुर्गा अपने ही लोगों का संहार करती हैं। जयकार में डूबी यह देवी एक बार पश्चाताप में डूबकर अपनी जिह्वा जरूर बाहर करती हैं, जब संहार करते-करते वह अपने देवता महादेव (शिव) की छाती पर पैर रख देती हैं। दुर्गा का यह रूप काली कहा जाता है और यह मुझे बार-बार सोचने के लिए विवश करता है कि क्या देवी को यह भान हो गया है कि आखिर वह कहां पहुंच गई हैं। उनका यह रूप अत्यंत कारुणिक है। आज से 33 वर्ष पूर्व मैंने एक कहानी लिखी थी 'कास के फूल'। इस कहानी में मूर्ति गढ़नेवाला कुम्हार महिषासुर की जगह इलाके के सेठ की मूर्ति बना देता है और दुर्गा के मुंडमाल में असुरों की जगह शहर के पापाचारियों के मुंड डाल देता है। इस छोटे-से बदलाव से

पूरे उत्सव का अर्थ बदल जाता है।

दलित-पिछड़े तबकों के नेता इस दशहरे में यदि यह जान पाएं कि वे किसकी छाती पर पैर रखकर जय-जयकार कर रहे हैं तो दशहरे का कुछ मतलब निकले। वे यदि देवी की तरह पश्चाताप कर सकें तो उत्सव का अर्थ ही बदल जाए।

(फारवर्ड प्रेस, अक्टूबर, 2011)

'असुर होने पर मुझे गर्व है'

झारखंड के पूर्व मुख्यमंत्री **शिबू सोरेन** से **नवल किशोर कुमार** की बातचीत

'हम आदिवासी भारत के मूल निवासी हैं। बाहर से आए सभी ने हमारा हक छीना है। हमें अपने अधिकार से वंचित रखने के लिए तरह-तरह के पाखंड किए गए। हमें जंगली तो कहा ही गया, हमें तो इंसान भी नहीं माना गया, खासकर हिंदू धर्मग्रंथों में तो हमारे लिए असुर शब्द का इस्तेमाल किया गया, लेकिन मुझे गर्व है कि मैं असुर हूं और मुझे अपनी धरती से प्यार है।'

फोन पर झारखंड के पूर्वमुख्यमंत्री 68 वर्षीय शिबू सोरेन की आवाज बहुत स्पष्ट सुनाई नहीं देती। उम्र अधिक होने और अस्वस्थ होने की वजह से वे बहुत अधिक बात नहीं कर पाते, लेकिन जब फारवर्ड प्रेस के तत्कालीन उपसंपादक नवल किशोर कुमार ने उनसे फोन पर बात की तो उन्होंने अत्यंत ही सहज तरीके से रावण को अपना कुलगुरु बताया।

दिशोम गुरु (यानी देश का गुरु) का दर्जा पा चुके शिबू सोरेन बताते हैं कि जब बचपन में वे रावणवध और महिषासुर मर्दिनी दुर्गा के बारे में सुनते थे, तब अजीब-सा लगता था। अजीब लगने की वजह यह थी कि महिषासुर और उसकी वेशभूषा बिल्कुल हम लोगों जैसी थी। वह हमारी तरह ही जंगलों में रहता था, गायें चराता था, शिकार करता था। फ़िर एक सवाल, जो मुझे परेशान करता था, वह यह कि आखिर देवताओं को हम असुरों के साथ युद्ध क्यों लड़ना पड़ा होगा। फिर जब और बड़ा हुआ तो सारी बात समझ में आई कि यह सब अभिजात्य वर्ग की साजिश थी, हमारे जल, जंगल और जमीन पर अधिकार करने के लिए।

श्री सोरेन कहते हैं कि जब उन्हें वर्ष 2005 में झारखंड का मुख्यमंत्री बनने का मौका पहली बार मिला, तब उन्होंने झारखंड में रहनेवाली असुर जाति के लोगों के कल्याण के लिए एक विशेष सर्वे कराने की योजना बनाई थी। इसका उद्देश्य यह था कि विलुप्त हो रही इस जाति को बचाया जा सके और उन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ा जा सके। इनका यह भी कहना है वर्ष 2008 में दूसरी बार मुख्यमंत्री बनने पर भी मैंने इस दिशा में एक ठोस नीति बनाने की पहल की, लेकिन ऐसा न हो सका। बहरहाल, श्री सोरेन चाहते हैं कि आज की युवा पीढ़ी अभिजात्यों द्वारा फ़ैलाए गए अंधविश्वास की सच्चाई को समझे और नए समाज के निर्माण में अपना योगदान दे।

(फारवर्ड प्रेस, अक्तूबर, 2011)

संथाल संहारक दुर्गा

मधुश्री मुखर्जी

वर्षा के मौसम के बाद, मुख्यतः बिहार और बंगाल में मनाई जानेवाली दुर्गा पूजा, भव्यतम हिंदू त्योहारों में से एक है। हिंदू धर्मग्रंथों के अनुसार दुर्गा, जिसे अपने दस हाथों में अस्त्र लिए हुए भैंसासुर या महिषासुर को मारते हुए दिखाया जाता है, का निर्माण देवों ने असुरों से युद्ध करने के लिए किया था। दुर्गा के भक्तों के लिए यह बुराई पर अच्छाई की विजय का त्योहार है। बांग्ला और हिंदी भाषी 'असुर' शब्द का इस्तेमाल दुष्ट और कपटी शत्रु के लिए करते हैं। ''हमें हमारी सामूहिक शक्ति का प्रयोग, समाज की अनिष्टकारी शक्तियों का विरोध करने के लिए करना चाहिए'', भारत के राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने 2015 में कहा और यह आशा व्यक्त की, ''सभी सकारात्मक ताकतें एक होकर असुर या विघटनकारी शक्तियों का नाश करेंगी।''

परंतु दुर्गोत्सव के दौरान संथाल आदिवासी दशोई नामक अनुष्ठान का आयोजन करते हैं, जिसमें महिलाओं का रूप धरे पुरुष अपने कपड़ों के अंदर हथियार छुपाकर शोक गीत गाते हैं और मंथर व भारी कदमों से नृत्य करते हैं। प्रतिभाशाली संथाल संगीतकार बजर हेम्ब्रोम, जिन्होंने कई वाद्ययंत्रों का आविष्कार किया और उनके वादन में सिद्धहस्तता हासिल की, ने इस अनोखी प्रथा के बारे में बंगाली सामाजिक कार्यकर्ता कुड़ालदेव को बताया :

''बहुत-बहुत समय पहले धरती पर हमारा राज्य था। यह संथालों का राज्य था। हमारे राजा अदुर थे। उन्हें राजा देबी भी कहा जाता है। वे अपने सुशासन के लिए, अपनी प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखने के लिए और अपनी वीरता के लिए जाने जाते थे। वे बिना किसी हथियार के बाघों से लड़ते थे और मदमस्त हाथियों को अकेले नियंत्रित कर लेते थे। उनकी सेना भी बहुत शक्तिशाली थी। उन्हें युद्ध में कोई हरा नहीं सकता था। उन्होंने राजा इंद्र को कई बार युद्ध में पराजित किया।

''परंतु इंद्र आसानी से हार माननेवालों में से नहीं थे। एक बार उन्होंने राजा देबी को हराने और संथाल राज्य पर कब्जा करने के लिए कपट और धूर्तता का इस्तेमाल

करने का निर्णय लिया। उन्होंने स्वर्ग के अपने दरबार की नृत्यांगना दुर्गा को धरती पर भेजा। दुर्गा के एक सहायक ने उन्हें हाथी की पीठ पर बैठाया और वन में स्थित राजा देबी के महल तक ले गया। दुर्गा के एक अन्य सहायक ने धरती पर मादक और मनमोहक चांदनी फैला दी। एक अन्य ने वातावरण को संगीत की सुमधुर लहरियों से भर दिया। चौथे ने माया से आसपास के जंगल को नृत्य करते मोरों से सजा दिया। ऐसे नशीले वातावरण में दुर्गा ने अपने सौंदर्य और नृत्य के ज़रिए राजा देबी को आसानी से मोहित कर लिया।

''जल्दी ही राजा देबी ने दुर्गा से विवाह कर लिया। दुर्गा उनकी रानी बनीं। फिर दुर्गा, इंद्र को राजा देबी के बारे में गुप्त सूचनाएं भेजने लगीं– यथा वे कब सोते हैं, कब निशस्त्र होते हैं, कब उनके सैनिक व सेनापति त्योहारों की मस्ती में डूबे रहते हैं आदि। इंद्र ने इन सूचनाओं के आधार पर योजना बनाई और एक निश्चित दिन और समय पर अचानक आक्रमण कर राजा अदुर को बंदी बना लिया। अदुर के सिपाही अचानक हुए इस आक्रमण से हक्का-बक्का रह गए और कुछ न कर सके। देबी के राज्य पर इंद्र का कब्जा हो गया। हमारे संथाल पूर्वजों ने अपने राजा और राज्य को खो दिया, जिसे जहां रास्ता दिखा, वह वहां भाग निकला।

''राजा के वफादार सिपाहियों और मित्रों ने अपने प्रिय शासक को खोजना शुरू किया। महिलाओं के भेष में अपने हथियार छुपाए हुए वे यहां से वहां घूमते और शहरों और गांवों में अपने राजा की तलाश करते। अगर उन्हें अपने उदास गीत का ज़रा-सा भी प्रतिउत्तर बंदी राजा की ओर से मिलेगा तो ये योद्धा अपने छिपे हुए हथियार निकाल लेंगे, युद्ध करेंगे और अपना खोया हुआ साम्राज्य फिर वापस पा लेंगे। जब राजा अदुर देबी लौटेंगे तो संथालों को उनका राज्य, उनकी खोई हुई संपत्ति, उनके जंगल, उनकी नदियां, सब कुछ वापस मिल जाएगा।

''दशोही नृत्य, दुर्गा पूजा के आखिरी दिन किया जाता है। आप दुर्गा की पूजा करते हैं, हम अपने खोये हुए राजा देबी को ढूंढते हैं। आप जिन्हें असुर कहते हैं, उनकी हमें आज भी तलाश है।''

इसी मार्मिक कथा का एक अन्य रूप मुख्यतः झारखंड में रहनेवाली असुर नामक अतिपिछड़ी आस्ट्रो-एशियाई जनजाति में भी प्रचलित है। इस जनजाति की कुल आबादी 11,000 से अधिक नहीं है। दुर्गा पूजा की पूरी अवधि में असुर शोक मनाते हैं और उनके बच्चे, सिंह के पुतलों की गर्दन काटते हैं। सिंह, दुर्गा का प्रतीक है। इस दंतकथा का निहितार्थ समझने के लिए हमें संथालों सहित सभी आस्ट्रो-एशियाई जनजातियों के प्रागैतिहासिक काल को समझना होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि ये जनजातियां उन मनुष्यों की संतानें हैं, जो अफ्रीका से निकलकर पहली बार एशिया पहुंचे।

ये पथिक, जो जंगली जानवरों का शिकार कर, जंगलों से कंदमूल इकट्ठा कर

और मछली मार कर अपना जीवनयापन करते थे, लगभग 70,000 वर्ष पहले लाल सागर को पार कर, अरब सागर के किनारे-किनारे यात्रा करते हुए फारस की खाड़ी के पार एशिया पहुंचे। इसके पश्चात, इनमें से कुछ लोग पूर्व दिशा में बढ़ते हुए हिमालय के उत्तरी छोर के सहारे दक्षिण चीन में पहुंच गए। दूसरी शाखा ने दक्षिण की राह पकड़ी और लगभग 65,000 साल पहले फारस के तट के रास्ते दक्षिण एशिया पहुंची। इसी समूह से भारतीय उपमहाद्वीप के आस्ट्रो-एशियाई भाषी संथाल, असुर, मुंडा व अन्य जनजातियां उपजीं। ऐसा लगता है कि पहले ये लोग समुद्र तट पर बसे और बाद में नदियों के किनारे-किनारे चलते हुए उपमहाद्वीप के अंदरूनी हिस्सों में पहुंचे। लगभग 45,000 साल पहले मध्यपूर्व से आए द्रविड़ प्रवासियों ने इन्हें पूर्व की ओर खदेड़ दिया। यह दिलचस्प है कि आस्ट्रो-एशियाई भाषी लोगों की एक अन्य शाखा, दक्षिणी चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया से हिमालय के पूर्वी छोर को पारकर भी भारत पहुंची।

संथाल दंतकथाओं से ऐसा लगता है कि इस जनजाति के लोगों ने शांति और समृद्धि के लंबे दौर देखे। वे जिस धरती पर रहते थे, वह बहुत उपजाऊ थी, परंतु बाद में उन्हें क्रूरतापूर्वक उनकी धरती से बेदखल कर दिया गया। दुर्गा व महिषासुर का मिथक इसी संघर्ष की ओर संकेत करता है। यद्यपि ऐसा माना जाता है कि यह संघर्ष आर्यों और आदिवासियों के बीच हुआ था, परंतु प्रतिमाओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह दरअसल आस्ट्रो-एशियाइयों व द्रविड़ों के बीच संघर्ष था। दुर्गा केवल पूर्वी भारत की मुख्य देवी नहीं है। कुछ द्रविड़ जनजातियां, जैसे ओड़िशा की कोंध जनजाति भी दुर्गापूजक हैं। दुर्गा का मिथक, सिंह से भी जुड़ा हुआ है और चूंकि पश्चिमी और मध्यभारत के सूखे इलाकों में बड़ी संख्या में सिंह पाए जाते थे, इससे ऐसा लगता है कि दुर्गा की देवी के रूप में परिकल्पना इसी इलाके में विकसित हुई होगी। यह भी हो सकता है कि द्रविड़, मध्य-पूर्व संस्कृतियों से अपने साथ सिंह से जुड़ी देवी की परिकल्पना लाए हों। मध्य-पूर्व में सेखमेत जैसी सिंहमुख देवियों की पूजा की जाती थी। इसके विपरीत, महिष या भैंसा, जिसकी चर्चा संथाल दंतकथाओं में बहुत मिलती है, शायद वह पहला जानवर था, जिसे संथालों ने पालतू बनाया और यह आस्ट्रो-एशियाइयों का प्रतिनिधित्व करता है।

अपनी अत्यंत दिलचस्प पुस्तक 'ब्लड राइट्स' में बारबरा ऐरेनराईक ने प्राचीन संस्कृतियों में हिंस्र व उग्र देवियों के उद्भव की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। आदिमानव जिससे सबसे अधिक डरता था, वह था किसी वन्य जीव का शिकार बन जाना। प्रागैतिहासिक काल की कई मानव खोपड़ियों में ऐसे छेद मिले हैं, जो सिंह प्रजाति के जानवरों के तीखे दांतों के निशान प्रतीत होते हैं। उन्नीसवीं सदी तक भारत में हर वर्ष हज़ारों लोग सिंह का शिकार बन जाते थे। यह कल्पना करना मुश्किल नहीं है कि जब आदिमानवों के किसी समूह का कोई सदस्य सिंह का शिकार बन जाता

होगा तो उस समूह के सदस्यों में किस तरह का भय व्याप्त हो जाता होगा और साथ ही यह संतोष भी, कि कम से कम वे सिंह का शिकार नहीं बने। हो सकता है कि हमारे पूर्वज लाशों और बाद में जिंदा लोगों को जंगली जानवरों की भूख शांत करने के लिए खुले स्थान पर छोड़ देते रहे हों। इस प्रक्रिया में मांसाहारी वन्यजीवों ने ईश्वर का दर्जा हासिल कर लिया। लगभग हर प्राचीन संस्कृति में किसी-न-किसी जीव से जुड़े हिंस्र देवता हैं। समय-समय पर उन्हें बलि दी जानी होती है। अपनी लाल जीभ बाहर निकाले, काली देवी रात में श्मशान घाटों में उसी तरह घूमती हैं, जैसे कभी शेरनी घूमती रही होगी। युद्ध में काली अपने नुकीले दांतों और पंजों से शत्रु को खूनमखून कर देती हैं और उसके रुधिर का पान करती हैं। एक आस्ट्रो-एशियाई जनजाति साबर, काली की पूजा करती है। काली उसी तरह से बाघ से जुड़ी हुई हैं, जिस तरह दुर्गा सिंह से।

यह कुछ अजीब है कि लगभग सभी भयावह भगवान, देवियां हैं। ऐरेनराईक इसे मासिक धर्म के दौरान होनेवाले रक्तस्राव से जोड़ती हैं, परंतु मुझे ऐसा लगता है कि इसका संबंध मातृत्व से है। आदिमानव अपने से बेहतर शिकारियों द्वारा छोड़े गए मांस पर निर्भर था। इसलिए उसके लिए हिंस्र वन्यजीव, डरावने शिकारी तो थे ही, साथ ही भोजन के स्रोत भी थे। बाघ या सिंह, बल्कि बाघिन या मादा सिंह किसे भोजन करवाती हैं? अपने शावकों को। शायद हमारे पूर्वज शावक बनना चाहते थे ताकि मांसाहारी वन्यजीव उनका पोषण करें और उनकी मातृत्व प्रवृत्ति उन्हें इन वन्यजीवों के क्रोध से बचाए। देवियों की पूजा ऐसी क्रूर शक्तियों के रूप में नहीं की जाती, जिन्हें प्रसन्न रखना जरूरी है, बल्कि वरदान देनेवाली मां के रूप में की जाती है : मां काली, मां दुर्गा आदि।

ऐसा हो सकता है कि मांसाहारी वन्यजीव, जिनकी आदिमानव पूजा करता था, ने शनैः शनैः मानव रूप धारण कर लिया, क्योंकि उनके पूजक उन्हें अपने रक्षक के रूप में देखने लगे और उनके भय का मुख्य स्रोत अन्य मनुष्य बन गए। काली देवी का रंग गहरा काला होता है और उनकी गर्दन से कटे-हुए सफेद सिर लटकते रहते हैं। ऐसा लगता है कि उन्हें प्राचीन कबीलाइयों द्वारा अपने से अधिक साफ रंगवाले अपने शत्रुओं से रक्षा करनेवाली देवी के रूप में देखा जाता था।

परंतु दुर्गा का रूप इतना हिंस्र नहीं है। उन्हें शिव की कई पत्नियों में से एक बताकर, मुख्यधारा के हिंदू देवकुल में शामिल कर लिया गया है। जब मध्यभारत के ब्राह्मण, जो कि शिव (मूलतः प्रजनन से जुड़े आदिवासी देवता) के पूजक थे, कई सदियों पहले बंगाल पहुंचे तो उन्हें वहां की मूल निवासी महिलाओं, जिनसे उन्होंने विवाह किया, की दुर्गा जैसी देवियों के प्रति श्रद्धा को स्वीकारना पड़ा। इन उग्र महिलाओं को शिव की पत्नी बताकर उन्होंने कुछ हद तक पितृसत्तात्मकता को स्थापित करने की कोशिश की। अक्टूबर के जिन नौ दिनों में दुर्गा की पूजा की जाती है, ऐसा

कहा जाता है कि अतिशय सौंदर्य की स्वामिनी दुर्गा उन दिनों अपने पति के हिमालय में स्थित घर से अपने माता-पिता से मिलने आती हैं (काली को पालतू बनाने के कई प्रयासों के बावजूद उन्हें कभी एक दब्बू पत्नी के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका)।

कुल मिलाकर, दुर्गा और महिषासुर की कथा, द्रविड़ों और आस्ट्रो-एशियाई कबीलों के बीच प्रागैतिहासिक संघर्ष की कथा है। यह संभव है कि इस संघर्ष के पहले ही दुर्गा को मुख्यधारा में शामिल कर लिया गया होगा और वे वर्चस्ववादी संस्कृति की प्रतीक बन गई होंगी। बजर हेम्ब्रोम की कहानी को और जटिल बनाती है उसमें इंद्र की भूमिका। इंद्र एक आर्य देवता है, जिसका उल्लेख सबसे पहले ऋग्वेद में मिलता है। 2000 व 1000 ईसा पूर्व के बीच लिखा गया यह पवित्र ग्रंथ हमें बताता है कि इंद्र ने भी काली चमड़ीवाले स्थानीय निवासियों से युद्ध किया था। इस तरह, दुर्गा-महिषासुर कथा में समय के साथ परिवर्तन होते गए और उसे परिष्कृत किया जाता रहा। आज यह आदिवासियों, चाहे वे आस्ट्रो-एशियाई रहे हों या द्रविड़, की पराजयों की श्रृंखला का प्रतिनिधित्व करती है। पराजित वर्ग का प्रतीक है भैंसा और विजयी मुख्यधारा का सिंह। यह कथा उन उर्वर इलाकों से पराजितों को खदेड़े जाने की कहानी भी सुनाती है, जिन इलाकों में वे शांत और समृद्ध जीवन बिता रहे थे।

दुर्भाग्यवश, यह विजय प्रागैतिहासिक नहीं है वरन् आज भी जारी है। यद्यपि आदिवासी भारत की कुल आबादी का केवल आठ प्रतिशत हैं, तथापि वे उन करोड़ों लोगों, जिन्हें विकास के नाम पर अपने खेतों, जंगलों और नदियों से बेदखल कर दिया गया, का चालीस प्रतिशत हैं। जैसे-जैसे मुख्यधारा का औद्योगिक समाज, जिसकी जमीन की भूख कभी न तृप्त होने वाली है, भारत के बचे हुए जंगलों में फैलता जा रहा है। वह आदिवासियों की जमीनों पर काबिज हो रहा है और उन्हें अपने घर, जंगल और जमीन से बेदखल करने को औचित्यपूर्ण ठहराने के लिए यह दावा कर रहा है कि दरअसल वह आदिवासियों को 'सभ्य' बनाकर उन्हें समाज की मुख्यधारा में ला रहा है।

सन् 2015 में रिलीज हुई एक फिल्म 'एमएसजी-2' आधुनिक काल में आदिवासियों की हार को उन्हें सभ्य बनाने का मिशन बताती है। उसमें गठीले बदन और सफेद चमड़ी वाला एक महानायक, छोटे कदवाले काले रंग के दर्जनों लोगों को एके 47 से मार गिराता है। जो लोग मारे जाते हैं, उनके साथ कभी-कभी हाथी और भैंसा भी होता है। ये दोनों ही जानवर आदिवासियों के प्रतीक हैं। यह योद्धा, दरअसल, भारतीय राष्ट्र-राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। ''राज्य ने जंगलों में रहनेवाले सभी आदिवासियों को आतंकवादी घोषित कर दिया है'', महानायक उद्घोष करता है, ''वे मनुष्य नहीं हैं, पशु नहीं हैं, बल्कि शैतान हैं''। एक अन्य दृश्य में आदिवासियों

को राक्षस बताया गया है। महानायक का मिशन है आदिवासियों को 'मनुष्य' बनाना : मूल निवासियों को कुचल डालना, उनकी इच्छाशक्ति का दमन करना और उन्हें नए, उभरते हुए भारत के कानून का सम्मान करने वाले कर्तव्यपरायण नागरिक बनाना। एक तरह से वह उसी प्रक्रिया को आगे बढ़ा रहा है, जिसकी शुरुआत दुर्गा ने हजारों साल पहले की थी - उस प्रक्रिया की, जिसमें शामिल है जंगलों में रहने वाले हर किस्म के लोगों का सफाया करना, उनकी धरती पर कब्जा करना और इसे असत्य पर सत्य की विजय बताना।

(अंग्रेजी से अनुवाद : अमरीश हरदेनिया)

मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ में असुर परंपराएं

राजन कुमार

भारत परंपराओं का देश है। यहां अनेक परंपराएं मिट चुकी हैं, जबकि अनेक परंपराएं उपेक्षा के कारण मिटने के कगार पर हैं। मैं इस लेख के माध्यम से एक प्राचीन परंपरा की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट करने की कोशिश कर रहा हूं, जिसे सहेजने और समझने की जरूरत है- असुर परंपरा। मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में असुर परंपराएं अभी भी मौजूद हैं, जो प्रायः भैंसासुर या महिषासुर के नाम से प्रचलन में हैं। इसके अतिरिक्त मैकासुर, मयनासुर, वारासुर समेत इसके अनेक नाम हैं। इस परंपरा के विभिन्न स्वरूप व मान्यताएं देखने को मिलती हैं।

मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में असुर परंपरा खास तौर से गोंड, बैगा, असुर, हलबा आदिवासी समुदायों के अलावा कुछ अनुसूचित जाति एवं अन्य पिछड़ी जातियों के बीच मौजूद है। यहां भैंसासुर के नाम से अनेक गांव, छोटे टीले, मिट्टी या पत्थर के चबूतरे या स्थान मिल जाएंगे।

छत्तीसगढ़ हलबा और गोंड आदिवासियों की बहुलता वाला बस्तर का बारासुर इलाका भी महिषासुर और असुर परंपराओं को संजोए हुए है। यहां कई गांवों में भैंसासुर की पूजा ग्राम देवता के रूप में होती है। इनका स्थान गांव के बाहर या खेतों में एक पत्थर या मिट्टी की पिंडी के रूप में होता है। फसल की पैदावार बढ़ाने या गांव को बुरी बलाओं से बचाने के लिए भैंसासुर की पूजा की जाती है, ऐसी यहां के आदिवासियों की आस्था है। उत्तर बस्तर के कांकेर जिले में सरण्डी और नागरबेड़ा के पास भैंसासुर नाम से एक ग्राम पंचायत भी है। भैंसासुर की पूजा करनेवालों में मुख्य रूप से गोण्ड, मुरिया, माड़िया, दोरला, भतरा, परजा, हल्बा आदिवासी होते हैं। भैंसासुर के अलावा ये बूढ़ादेव, ठाकुर दाई, रानीमाता, रावदेवता, मावली, अगारमोती, डोंगर, बगरूम आदि की पूजा करते हैं।

छत्तीसगढ़ के अभनपुर जनपद में राष्ट्रीय राजमार्ग 30 पर बसा हुआ वनों से आच्छादित ग्राम है– बड़े उरला। इसके आस-पास के गांव गिरोला और बेलडीह हैं।

यहां तेंदू पत्ता की भरमार है। ग्रामवासी बीड़ी बनाने के लिए गर्मी के दिनों में यहीं से तेंदू के पत्तों की तोड़ाई करते हैं। बड़े उरला से लगभग एक कोस पर वन देवी कर्राबाघिन का स्थान है तथा गांव के खार (खेतों) में भैंसासुर भी विराजमान हैं। भैंसासुर वन देवता हैं, त्योहारों के विशेष अवसरों पर भैंसासुर का मान-दान किया जाता है। वनदेवी कर्राबाघिन वन के प्रवेश द्वार पर होती हैं। वहां कर्राबाघिन का 'मंदिर' बना दिया गया है। वन में प्रवेश करने के पूर्व उनकी पूजा-अर्चना करके कुशलता की प्रार्थना की जाती है। विशेषकर वीरान गांव का 'बगबुड़ा' नाम ध्यान आकृष्ट करता है। बग=बाघ और बुड़ा=डूबना या दिखाई न देना यानी इतना सघन वन कि बाघ दिखाई न दे। यहां के लोगों के अनुसार भैंसासुर को वनदेवता और कर्राबाघिन को वनदेवी के रूप में पूजा जाता है।

छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर में महामाया देवी का मंदिर है। मंदिर के पीछे पुजारी निवास की तरफ एक घनी झाड़ी थी। यहां पत्थर के दो प्राचीन टीले हैं। इन टीलों को भैंसासुर के नाम से जाना जाता है। कुछ दशक पूर्व यहां भैंसे की बलि दी जाती थी। अब इन टीलों के चारों ओर एक भवन के आकारनुमा ढांचा बना दिया गया है तथा इन टीलों को अब लाल सिंदूर से पोत दिया गया है।

रायपुर से सटे हुए जिले बलोदा बाजार में डमरू नामक एक गांव में महिषासुर की पूजा ग्राम देवता के रूप में की जाती है। खेत में इनका स्थान होता है। पूजा के दौरान सूअर की बलि भी दी जाती है।

कोरबा जिला के भैसमा गांव में भैंसासुर को लेकर अनेक लोककथाएं प्रचलित हैं। यहां के लोगों के अनुसार कालांतर में गांव के एक तालाब में एक जंगली वन भैंसा आता था और कीचड़ में खूब लोटता था। उस जगह कई सदियों से भैंसासुर की पूजा की जाती है। प्रतीक के रूप में वहां एक पत्थर है और तीन वर्ष में एक बार पूजा होती है। यहां भी पूजा में सूअर की बलि दी जाती है। भैसमा गांव के अलावा पुलाली कला एवं आस-पास के गांवों में भी भैंसासुर की पूजा होती है।

मध्यप्रदेश से सटा हुआ छत्तीसगढ़ का बिलासपुर जिला गोंड आदिवासी बहुल इलाका है। यहां लगभग सभी आदिवासी गांवों में भैंसासुर की पूजा सबसे शक्तिशाली पुनेम (दर्शन) के रूप में होती है। यहां रतनपुर से कोटा मार्ग पर 6 किलोमीटर में भैंसाझार गांव है। यहां के लोगों के अनुसार यहां पहले बहुत बड़ा जंगल था, जिसमें भैंसामूढ़ा नाम का एक तालाब था। भैसामूढ़ा तालाब के नाम पर ही इस गांव का नाम भैंसाझार पड़ा। भैसासुर की पूजा गांव के वैद्य (बैगा) द्वारा की जाती है। भैंसासुर को भूत-प्रेत भगाने तथा फसलों की रक्षा के लिए विशेष तौर पर पूजा जाता है।

छत्तीसगढ़ की तरह मध्य प्रदेश में भैंसासुर की पूजा होती है। मध्यप्रदेश के विदिशा, छतरपुर, मंडला, जबलपुर, सिवनी, बुरहानपुर, शहडोल, अनुपपुर, बालाघट, दामोह, कटनी, छिंदवाड़ा, रीवा, डिंडोरी, उमरिया समेत बैगा और गोंड बहुल सभी क्षेत्रों में

भैंसासुर की पूजा समान रूप से होती है। हर परगने (गांव) में एक पहाड़ (टीला) को पूजनीय स्थल मान्य किया जाता है, जिसे डोबरी कहते हैं।

पेरसा (पलास) के वृक्ष के समक्ष वर्ष में 2 बार पद्दि पीड़ा, घेटी-घेटा (सूअर जोड़ा) की बलि देकर समस्त पशुधन की सुरक्षा व लंबी आयु के लिए कामना करते हैं। पूजा में महिलाएं सम्मिलित नहीं होती हैं। जब पुरुष भैंसासुर पूजकर आते हैं तो महिलाओं द्वारा उनके स्नान की व्यवस्था की जाती है। आदिवासियों की मान्यता है कि भैंसासुर की पूजा करने से दुधारू पशु स्वस्थ रहते हैं और हिंसक जानवरों से सुरक्षित रहते हैं।

इंदौर, देवास, हरदा और होशंगाबाद का मांझी (मल्लाह) समुदाय भैंसासुर को अपना कुल देवता मानता है, जो विशेषकर नर्मदा नदी के आस-पास बसा है।

मध्य प्रदेश में भैंसासुर के नाम पर अनेक गांव-नगर-कॉलोनी भैंसासुर के महत्त्व को दर्शाते हैं। सतना जिले के मैहर थाना क्षेत्र के अंतर्गत भी भैंसासुर गांव है। जबलपुर में भैंसासुर तिराहा है। सीहोर शहर के निकट इछावर मार्ग पहाड़ी पर भैंसासुर बाबा का मंदिर है। छतरपुर में भैंसासुर मुक्ति धाम है। टीकमगढ़ जिले के पास एक बड़ागांव कस्बा है। यहां भैंसासुर का मंदिर है। मंदिर भैंसासुर की मड़िया के नाम से जाना जाता है।

पुरातत्व विभाग, भारत सरकार द्वारा संरक्षित भैंसासुर का प्राचीन मंदिर, जो उत्तर प्रदेश के महोबा जिले के कुलपहाड़ तहसील के चौका-सोरा गांव में स्थित है, मध्य प्रदेश के छतरपुर की सीमा से पटा हुआ है। यहां गड़रिया और पाल समुदाय के लोग मैकासुर की पूजा अपने जानवरों की रक्षा के लिए करते हैं।

मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में असुर परंपराएं व्यापक रूप में फैली हुई हैं। उपेक्षा के कारण इन परंपराओं से एक बड़ा तबका अवगत नहीं हो सका है। इन परंपराओं पर व्यापक शोध करने तथा उनका वैज्ञानिक नजरिए से विश्लेषण करने की जरूरत है।

दलित-बहुजन दृष्टिकोण और महिषासुर विमर्श

ब्रजरंजन मणि

सत्तारूढ़ दल द्वारा महिषासुर और दुर्गा के मिथक को अशोभनीय ढंग से संसद में उठाने और साथ ही महिषासुर शहादत दिवस को अनैतिक साबित करते हुए इसे मनाने वाले जेएनयू के छात्रों को बदनाम करते हुए उन्हें देशद्रोही साबित करने का जो प्रयास है, वह असल में बीजेपी-आरएसएस की आक्रामक ब्राह्मणवादी राजनीति को दर्शाता है। यह राजनीति दलित-बहुजन विद्रोह की आवाज को खामोश कर देना चाहती है। ऐसी राजनीति तर्क को तथ्यहीन बकवाद में और इतिहास को मिथक में बदल देना चाहती है ताकि ब्राह्मणवाद और राष्ट्रवाद परस्पर समानार्थी नजर आने लगें और इस तरह दलित-बहुजन को ऐतिहासिक और लंबे षड्यंत्र का गुलाम बनाए रखा जा सके, लेकिन अब परिस्थिति बदल गई है, क्योंकि फूले-आंबेडकर और पेरियार की मुक्तिकामी विचारधारा से प्रभावित दलित-बहुजन की नयी पीढ़ी अब इतिहास का पुनः अध्ययन कर रही है। ऐसा करते हुए वह भारत के इतिहास के नाम से पढ़ाए जाते रहे ब्राह्मणवादी दुष्प्रचार को निरस्त करती जा रही है। अभी हाल ही में महिषासुर-दुर्गा मिथक से जुड़ी जो तीखी बहस हम देख रहे हैं, उसे इसी पृष्ठभूमि में देखा और समझा जाना चाहिए।

भारतीय इतिहास के संबंध में कई अधूरे और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण मौजूद हैं, जो कि दो मुख्य श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं - ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण और दलित-बहुजन दृष्टिकोण। इस लंबे विभाजन की वास्तविकता अभिजात्य वर्ग के उस प्रचलित व प्रभावी विमर्श से एकदम भिन्न है, जो कि अनेक तरीकों से अगड़ी जातियों के हितों की सेवा करता आया है। जैसा कि हम जानते हैं, ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण शक्तिशाली और सम्पन्न तबकों की सोच का प्रतिनिधित्व करता है। जबकि दलित-बहुजन दृष्टिकोण (जिसमें कि हम दलित, आदिवासी और ओबीसी सहित सामान्य महिलाओं को भी गिनते हैं) तिरस्कृत और विभाजित बहुसंख्यकों के हक़ की बात करता है। अतीत के बारे में ब्राह्मणवादी और दलित-बहुजन दृष्टिकोण इतने भिन्न

और परस्पर विरोधी हैं कि शायद भारत का असली इतिहास कभी भी विश्वसनीय रूप से ज्ञात या पुनर्निर्मित नहीं किया जा सकेगा। यह भारत की त्रासदी है, क्योंकि इसका विवादित इतिहास निकट भविष्य में वास्तविक इतिहास नहीं बन सकेगा। चूँकि इतिहास ही वर्तमान और भविष्य को अनेक ढंग से आकार देता है, इसलिए यह संपन्न और शोषित वर्ग के मन में परस्पर विरोधी भावनाओं को उभारता है। अब इतिहास को लेकर जो असहमतियां हैं, वे वास्तव में मौजूदा मुद्दों की समझ और व्याख्याओं के बीच की असहमतियां हैं। ये असहमतियां भारतीय समाज में फैले वास्तविक विभाजनों को और एक-दूसरे पर विश्वास के अभाव को व्यक्त करती हैं। कई लोग यह कह सकते हैं - और उनका कहना जायज भी है - कि इतिहास और वर्तमान को लेकर इस तरह की असहमतियां सिर्फ भारत तक सीमित नहीं हैं, वे अन्य देशों में भी पाई जाती हैं, लेकिन बहुत कम लोग इस बात को नकार सकेंगे कि भारत जैसे वर्णों व जातियों में विभाजित और पितृसत्तात्मक समाज में ये सामाजिक संघर्ष बहुत तीखे और उग्र हो सकते हैं।

इस प्रकार इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि दुर्गा-महिषासुर विवाद में झलक रहे इतिहास का रहस्य एक नई दलित-बहुजन पीढ़ी को सता रहा है। यह पीढ़ी असल में इस बात को समझना चाहती है कि वे क्यों और कैसे इस शोषक जाति व्यवस्था के गुलाम हुए हैं, लेकिन चूँकि वे ज्ञान सृजन और इतिहास लेखन की पेशेवर विधा से एक अर्थ में या तो दूर हैं या बाहर कर दिए गए हैं, इसे समझने के क्रम में वे बार-बार अपने मौखिक इतिहास की उन्हीं कहानियों तक जा पहुंचते हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही हैं। वे जब वर्तमान में चल रहे भेदभाव सहित हाशिए पर धकेल दी गई अपनी जिंदगियों को देखते हैं, तब उनके दमन के इतिहास की इन व्याख्याओं को और बल मिलता है। मेरी दृष्टि में दलित-बहुजन का यह मौखिक इतिहास और उनका ज़िंदा अनुभव समाज-ऐतिहासिक सच्चाई के ज्यादा निकट है, यह उन ब्राह्मणी कथाओं के कुल जमा विस्तार और उनसे मिलने वाली सारभूत शिक्षाओं की तुलना में सच्चाई के कहीं ज्यादा निकट है, जो कि मीडिया और शिक्षा जगत द्वारा मानक इतिहास की तरह बताई जाती हैं।

यह अपने आपमें एक ज्ञानवर्धक तथ्य है कि भारत का इतिहास लेखन कुछ अपवादों को छोड़कर द्विज जातियों की ही जागीर बना रहता है। ये द्विज अलग-अलग ढंग से एक काल्पनिक 'हिंदू राष्ट्र' या 'उदार प्रगतिशील' इतिहास को ईजाद करते रहते हैं, जो कि प्राचीन ग्रंथों और स्रोतों के चालाकीपूर्ण अध्ययन पर आधारित होता है। प्राचीन भारत के संबंध में अपने विस्मयकारी अति-उत्साह के चलते वे प्राचीन भारत को एक अहिंसक स्थान मानते हैं, यहां तक कि उदार धर्मनिरपेक्ष विद्वान जैसे कि अमर्त्य सेन और रोमिला थापर भी अपनी तमाम विद्वत्ता और हिंदुत्व पर अपने गहन अध्ययन के बावजूद एक मनगढ़ंत इतिहास का निर्माण करते हैं, जो कि बहुत असरदार

ढंग से जाति आधारित और ब्राह्मणवादी हिंसा को छुपा देता है। इस तरह के उदार विद्वान बहुत आसानी से ये तर्क रखते जाते हैं कि भारत के पास अत्यधिक सहिष्णु और उदार समाज के अर्थ वाला एक गौरवपूर्ण इतिहास था और जो समस्याएं हम आजकल देखते हैं, वे इस इतिहास में आरएसएस जैसे तत्वों द्वारा की गई गड़बड़ी का परिणाम हैं। इस प्रकार जाति और ब्राह्मणवाद की ऐतिहासिक हिंसा के दमनकारी इतिहास को सामान्य बात साबित करके ये संपन्न वर्ग के विद्वान् भारतीय इतिहास संबंधी ब्राह्मणी हिंदू धर्म की आधारभूत विशेषताओं की चर्चा ही नहीं करते। (इस बिंदु पर विशेष रूप से सेन के एक अघोषित ब्राह्मणवाद के समर्थक होने के खुलासे के संबंध में मेरी किताब 'नॉलेज एंड पॉवर', 2014 देखिए) ऐसे विद्वानों से उम्मीद की जाती है कि वे मुस्लिमों और ईसाईयों के खिलाफ की जा रही घृणा की हिंदुत्ववादी राजनीति का विरोध करें, लेकिन वे वर्णाश्रम धर्म की गंदी राजनीति और जाति आधारित हिंसा सहित इनके दुष्परिणामों के विषय में हिंदुत्ववादी गुंडों की तरह ही अंधे बने रहते हैं। जाति और वर्ग पर खड़ी उनकी अपनी सामाजिक हैसियत और ब्राह्मणवादी बौद्धिक संस्थानों से आसानी से प्रशंसा और पुरस्कार पाने के लालच के कारण वे उन बातों को स्पष्टता से नहीं देख पाते जो कि दलित-बहुजन के लिए– जो कि मानव इतिहास का सबसे क्रूर भेदभाव झेल रहे हैं– एकदम स्वाभाविक व स्पष्ट-सी बाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो हम देखते हैं कि सामाजिक विज्ञान के श्रेष्ठतम लेखनों में भी जाति और ब्राह्मणवाद को एक सामान्य मुद्दा बनाकर पेश किया जाता है। यह तर्क दिया जा सकता है कि जाति और ब्राह्मणवाद की संस्कृति में बहुसंख्य दलितों-पिछड़ों के अमानवीय शोषण को पहचानने से इनकार करने वाली अड़ियल प्रवृत्ति, जो कि इस उदार प्रगतिशील विद्वत्ता में बनी हुई है, ने भले ही बीजेपी-आरएसएस का मार्ग निर्मित न किया हो, लेकिन उनकी मदद जरूर की है। इस तरह उन्होंने बीजेपी-आरएसएस के सत्ता में आने की प्रक्रिया को और जिस हिंदुत्व के नंगे नाच को आज हम देख रहे हैं, उसे इस विद्वत्ता ने मदद ही पहुंचाई है। इससे यह साफ हो जाता है कि ये उदार सवर्ण अभिजात्य हिंदुत्व की ताकतों के खिलाफ इतनी बुरी तरह से नाकाम क्यों रहे हैं और क्यों हिंदुत्ववादी गुंडे अपने इन उदार सवर्ण भाइयों के पाखंड का भरपूर फायदा उठा रहे हैं।

ऐसा लगता है कि भारत के संबंध में स्थापित ज्ञान और इतिहास लेखन का एकमात्र उद्देश्य हर तरह से किसी-न-किसी ब्राह्मणवादी निष्कर्ष को सिद्ध करना मात्र है, ताकि जाति और भेदभाव के ज़िंदा अनुभवों सहित अपने ही दमन के लंबे इतिहास की दलित-बहुजन की याद्दाश्त को या तो नष्ट किया जा सके या उसका महत्त्व कम किया जा सके। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है, क्योंकि हम यह जानते हैं कि लगभग सभी अकादमिक शोध और लेखन आज भी सवर्ण अभिजात्य वर्ग की ही जागीर बना हुआ है। इस अभिजात्य वर्ग द्वारा नियंत्रित अकादमिक जगत

में इतिहास के संबंध में दलित-बहुजन के दृष्टिकोण (जो कि आधुनिक समय में फुले, आंबेडकर और पेरियार जैसे विद्रोही विचारकों ने निर्मित किया है) को अवैज्ञानिक या सांप्रदायिक बताकर हीन साबित करने या निरस्त करने की प्रवृत्ति बनी हुई है। जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवाद के इस ऐतिहासिक अन्याय के प्रति इस अकादमिक अंधेपन और शोषितों के खिलाफ उनकी लंबी लड़ाई ने हिंदुत्व की ताकतों को मजबूत किया है और ब्राह्मणवादियों व दलित-बहुजन के बीच में अविश्वास पैदा कर दिया है।

मैं समझता हूं कि यही वह वृहत्तर ऐतिहासिक संदर्भ है, जिसमें हमें दुर्गा-महिषा मिथक को रखकर देखना चाहिए। आइए महिषासुर के प्रतीक के पीछे छुपे हुए वृहद् अर्थ को जानने के पहले हम इस मिथक और इससे जुड़े विवाद के बारे में कुछ बुनियादी तथ्यों को जान लेते हैं। महिषा को मारने वाली दुर्गा की कथा, जो कि इतिहास को छुपाने के उद्देश्य से एक धार्मिक मिथकीय उपकरण के रूप में रची गई है, जो कि दुर्गा पूजा का आधार बनाती है, उसे हम सब जानते हैं। इसका मूल ग्रंथ 'देवी महात्म्य' है, जो कि पांचवीं से लेकर सातवीं शताब्दी के बीच मार्कण्डेय पुराण में एक कविता के रूप में लिखा गया है। इस मिथक का कथानक और इसकी जटिलता यह संकेत करती है कि देवी महात्म्य, असल में किसी अन्य प्राचीन संस्कृत या प्राकृत ग्रंथ का पुनर्लेख है। प्राचीन लेखनों में दुर्गा (जिसका शाब्दिक अर्थ दुर्जेय होता है) पहले-पहल चंडिका (भयावह) के रूप में प्रकट होती है। यह युद्ध की देवी उन पुरानी मोहक जादूगरनियों की परंपरा को एक हिंसक ऊंचाई तक उठा ले जाती है, जिसमें मोहिनी (वेश परिवर्तित विष्णु) और तिलोत्तमा (एक अलौकिक सुंदरी) असुरों या अनार्यों को मोहित करती हैं ताकि सुर या आर्य ब्राह्मण उन्हें पराजित कर सकें। चूंकि दुर्गा वह पहली देवी है, जिसने स्वयं ही असुरों और उनके नेता महिषा को अपने हाथों मार दिया, यही बात दुर्गा को इतना महत्त्वपूर्ण बनाती है।

सिंह की सवारी करनेवाली तेजस्विनी देवी दुर्गा की वह कथा, जिसमें वह आठ भुजाओं में भयानक हथियार थामे हुए महिषा और उनकी सेना का कत्लेआम करती हैं, ब्राह्मणवादी परंपरा में अशुभ पर शुभ की विजय के रूप में देखी जाती है। इसी दुर्गा, जो कि शक्ति और सौंदर्य का प्रतीक हैं, को आजकल के ब्राह्मणवादी रुझान की लेखिकाओं और लेखकों ने अपने लेखन में एक अभूतपूर्व नारीवादी प्रतीक के रूप में पुनर्जीवित किया है। वे दावा करते हैं कि केवल भारत ही ऐसा देश है, जिसमें सुंदरी और शक्तिमती देवियों के ऐसे विस्मयकारी रूपों की कल्पना की गई है, जो कि पुरुष देवों से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

यह मान्यता निम्नलिखित प्रश्न खड़े करती है :

- क्या दुर्गा सच में शुभ की शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है अथवा क्या वह

षड्यंत्रकारी देवताओं के हाथ में एक उत्साही उपकरण मात्र थी, जो कि साम-दाम-दंड-भेद से किसी भी तरह असुरों को खत्म करना चाहते थे?

• क्या महिषा एक अत्याचारी दैत्य था, जैसा कि ब्राह्मणवादी कथाओं में बताया जाता है या कि वह अनार्यों का एक न्यायप्रिय राजा था, जिसे धोखे से खत्म कर दिया गया?

• और, क्या नारीवादी शक्ति के दावे में कोई सार है या कि यह ब्राह्मणवादी कल्पना की ईजाद है या खुद के महिमामंडन के लिए किया गया उपाय है?

• सबसे महत्त्वपूर्ण, क्या हिंसा और हत्या की राजनीति को धार्मिक रंग देकर प्रचारित करना और उसका उत्सव मनाना उचित है?

दलित-बहुजन को ये ही प्रश्न या शंकाएं आंदोलित करती हैं। वे इनको अनेक ढंगों से आक्रामक रूप में व्यक्त करते हैं और अक्सर ही इतिहास के दमन को आज के दमन से जोड़कर रखते हैं।

यह बहुत संभव है कि दुर्गा का मिथक किसी ऐतिहासिक घटना का संशोधित व विकृत रूप हो, जिसका संकेत हमें खुद ब्राह्मणवादी स्रोतों से मिलता है। कई संस्कृत ग्रंथ हैं, जो कि दुर्गा और महिषा के कामुक संबंधों का वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए देवी भागवत पुराण बहुत स्पष्टता से बताता है कि देवताओं ने देवी को उत्पन्न किया और देवी ने महिषा को काम-मोहित करके उनकी हत्या की। महिषा की यह धोखे से की गई हत्या ही दलित-बहुजन को उत्तेजित करती है और इस मिथक के विपरीत पाठ को जन्म देती है। उनका तर्क है कि महिषा जैसे दैत्य बना दिए गए असुर, असल में उनके महान पूर्वज थे, जो कि आर्य ब्राह्मण हमलों के खिलाफ लड़े थे। वे इस तथ्य को अपने वृहत्तर तर्क से भी जोड़ते जाते हैं, जिसके अनुसार ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था एक हिंसक प्रक्रिया के तहत बुनी गई है, जिसे दुर्गा-महिषा जैसे पुराणों के आख्यानों द्वारा ऊल-जलूल और चमत्कारिक बातों के पर्दे में छुपाया जाता है। इन मिथकों के अपने विद्रोही पुनर्पाठ को वे अन्य ब्राह्मणवादी ग्रंथों जैसे कि धर्मशास्त्रों से भी जोड़ते जाते हैं। ये ग्रंथ इस बात की घोषणा व प्रचार करते हैं कि ब्राह्मणों और अन्य ऊंची जातियों का ज्ञान, सत्ता और वैभव सदैव ही शूद्रों और अतिशूद्रों के बारंबार मजबूत किए गए अज्ञान, कमजोरी और दरिद्रता पर आधारित होने चाहिए।

जेएनयू के वे छात्र, जिन्होंने महिषासुर शहादत दिवस का आयोजन किया, वे महिषासुर-दुर्गा मिथक के विचारोत्तेजक पुनर्पाठ को सामने लाकर यही सब करना चाहते थे और यही बात फॉरवर्ड प्रेस नामक दलित-बहुजन मासिक के अनेक चुभते हुए आलेखों ने अनेक तरीकों से रेखांकित करने की कोशिशें की थीं। यह दृष्टिकोण भारत भर में फैली कई दलित, ओबीसी और आदिवासी समुदायों में प्रचलित उन मान्यताओं से समानता रखता है, जो कि महिषासुर को अपना नायक समझती हैं।

साथ ही यह दृष्टिकोण कई राज्यों के उन ऐतिहासिक स्थानों से भी साफ झलकता है, जो कि महिषासुर के सम्मान में बनाए गए हैं। मैसूर जैसा नगर (जो कि अंग्रेजी उच्चारण में मैसूर बन गया है) का नाम महिषासुर के नाम पर रखा गया है और यह बात बहुत विश्वस्त ऐतिहासिक स्रोतों से सिद्ध भी होती है। दूसरे शब्दों में दलित-बहुजन की नजर में महिषासुर-दुर्गा मिथक का ब्राह्मणवादी रूप कुछ और नहीं, बल्कि एक दुष्प्रचार मात्र है। दलित-बहुजन को जो बात सबसे ज्यादा खटकती है, वह यह कि उनको शूद्र बनाने की या सामाजिक रूप से गुलाम बनाने की प्रक्रिया को ब्राह्मणवादी संस्कृति ने एक धार्मिक स्वरूप दे डाला है। लेकिन जहां ब्राह्मणी धर्म-संस्कृति में पीड़ित जनों का दमन एक पवित्र नियम बना दिया गया, वहीं ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष की एक लंबी परंपरा भी रही है, जिसे दलित-बहुजन विचारधारा कई तरह से बहुत प्रभावशाली ढंग से रेखांकित करती आई है। ब्राह्मणवाद के विरोध की यही सुदीर्घ परंपरा, जिसे आधुनिक समय में फुले-आंबेडकर और पेरियार ने सींचा है, उस दलित-बहुजन की नई पीढ़ी का मार्गदर्शन करती है, जो दुर्गा पूजा को अपने खिलाफ एक हिंसक परंपरा के जीवंत प्रतीक के रूप में देखते हैं। हिंसा के इस महिमामंडन के विरोध के द्वारा वे उस महिषा की शहादत को श्रद्धांजलि देते हैं, जिन्हें कि काम-मोहित करके धोखे से मारा गया और ये संकेत कई ब्राह्मणी ग्रंथों से मिलते हैं। इसी तरह यह तर्क भी दिया जा सकता है कि प्राचीन भारत में दुर्गा और अन्य देवियों के बारे में स्त्री शक्ति होने का जो अभूतपूर्व दावा किया जाता है, वह स्वयं में संदेहास्पद तर्कों पर आधारित है। सर्वप्रथम जैसा कि देवी महात्म्य और अन्य ग्रंथ बताते हैं, दुर्गा की शक्ति उनके स्वयं के भीतर से नहीं आती, बल्कि देवताओं के तेज से आती है। दूसरा यह कि देवी स्वयं में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं, बल्कि उन षड्यंत्रकारी देवताओं के हाथ में एक उत्साही उपकरण मात्र हैं जो कि अपने मुख्य शत्रुओं को जीतने के लिए उन्हें उपयोग भर कर रहे हैं। देवी के इस कथानक में नारीवादी मुक्ति की खोज असल में चांद मांगने के समान है, जो किसी को नहीं मिलता। जैसा कि हिंदू धर्म व मिथकों पर गहन शोध करनेवाली वेंडी डोनिगर समझदारी से नोट करती हैं, ''दैवी नारीवादियों और अन्य लोगों की यह सदिच्छा कि देवी पूजा स्त्रियों के लिए शुभ है, असल में भारत के उन हालातों को देखते हुए स्वयं ही खत्म हो जाती है, जहां राजनीतिक-आर्थिक शक्ति के संदर्भ में देवी में आरोपित उन शक्तियों को स्त्रियों को उपलब्ध कराने की अनिवार्य प्रेरणा पुरुषों में नहीं होती, न ही यह प्रेरणा स्त्रियों में होती है कि वे पुरुषों से ये शक्तियां ले सकें। निश्चित ही हम इस तथ्य का तर्क देख सकते हैं कि यह विपरीत ढंग से काम करता है (देवी जितनी शक्तिशाली होगी, वास्तविक स्त्री उतनी कमजोर होगी) ... देवियों के मिथकों को एक सामाजिक विधान की तरह देखने वाले दैवीय नारीवादी एक दलदली भूमि पर खेल रहे हैं।''

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि यह जानना बहुत कठिन नहीं है कि ब्राह्मणी परंपरा में देवियों की पहचान और महिमामंडन पौराणिक काल में हुआ है, जबकि इसमें कई मूलनिवासी और जनजातीय अभ्यासों को आत्मसात किया जा रहा था, ताकि विरोधी जनसामान्य को ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में फुसलाया जा सके। अनार्य समुदायों में भी, जिनमें जाहिर तौर पर एक मातृसत्तात्मक रुझान था, वे भी अपनी देवियों को पूजते आए हैं, जिनमें चंडिका और दुर्गा भी शामिल थीं। अन्य शब्दों में कहें तो ये नाम आर्य ब्राह्मणों द्वारा षड्यंत्रपूर्वक अपना लेने के पहले भी अनार्य परंपराओं में प्रयोग में बने हुए थे। यह भी उल्लेखनीय है कि आर्य ब्राह्मणों से भी सदियों पहले कुषाणों ने अपने सिक्कों में देवियों को स्थान दिया है। जैसा कि डोनिगर बतलाती हैं, पौराणिक काल के किसी बिंदु पर जबकि ब्राह्मणवादी भक्ति परंपरा का उदय हो रहा था, उस समय स्थानीय मूलनिवासी जनों में देवी की पूजा जारी थी। इन देवी पूजकों की विराट संख्या ने संस्कृत पाठों के ब्राह्मणी संरक्षकों को अपने पाठों में इस देवी पूजा का उल्लेख करने के लिए विवश कर दिया। इस प्रकार ब्राह्मणवादी ढांचे में इन देवियों का पुनः आविष्कार और उन्हें असुरों (जो कि निश्चित ही दलित-बहुजन के पूर्वजों का कूट नाम है) के खिलाफ युद्ध की मशीनों में बदल देने की यह चाल आर्य ब्राह्मणों के लिए ब्रह्मास्त्र साबित हुई। इसने सदियों के विस्तार में फैले हिंसक आर्य-अनार्य संघर्ष की स्मृति को मिटा दिया। इसी स्मृति के खंडित और विकृत रूप को हम वेद-पुराण और अन्य ब्राह्मणी ग्रंथों में पाते हैं।

जाति की कैद में समाज और मानव मन

इतिहास और मिथकों से जुड़े कुछ प्रासंगिक बिंदु, जो कि भारत के कष्टपूर्ण अतीत के संबंध में हमारी समझ बढ़ा सकते हैं, उनका उल्लेख करना यहां ठीक रहेगा। निश्चित ही मिथक इतिहास नहीं है, लेकिन मिथक पूरी तरह सत्य के विपरीत भी नहीं होता। मिथक असल में एक परंपरागत कहानी होती है, जो तथ्यों और कपोल कथाओं का, फंतासी और वास्तविकता का आपस में घालमेल कर देती है। यह लोगों के प्राचीन इतिहास से या प्राकृतिक या सामाजिक घटना की व्याख्या से जुड़ी होती है, जिसमें चमत्कारी किरदार या घटनाएं पिरोई जाती हैं। अपने समृद्ध प्रतीकों और विभिन्न संदर्भों से जुड़ी हुई फंतासियों से परिपूर्ण ये मिथक तथ्यों को उद्घाटित भी करते हैं और छुपाते भी हैं और ऐतिहासिक लेखनों और स्रोतों के साथ-साथ ये हमें इंसानी इतिहास की पुनर्रचना करने और समझने में मदद करते हैं, लेकिन भारत की समस्या कुछ विचित्र-सी है। प्राचीन भारत में इतिहास-पुराण के रूप में सिर्फ मिथक लेखन ही मिलता है (मिथक इतिहास और कथाएं) और बहुत मुश्किल से ही प्रचलित ब्राह्मणी परंपरा में कोई इतिहास लेखन मिलता है। यह जानना बहुत रोचक है कि भारत में इतिहासबोध का जन्म क्यों नहीं हुआ। यह तथ्य कि इतिहास-

अध्ययन का ग्रीस और चीन जैसी अन्य सभ्यताओं में विकास हुआ लेकिन भारत में नहीं हुआ, अपने आपमें बहुत कुछ बताता है, साथ ही यह दलित-बहुजन की उन आशंकाओं को भी समर्थन देता है, जिसके अनुसार राजनीतिक-बौद्धिक षड्यंत्रों द्वारा जनमानस को जाति की कैद में बांधे रखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहास लेखन की बजाए मिथक लेखन का ब्राह्मणवादी निर्णय एक सोचा-विचारा निर्णय था और ऐतिहासिक तथ्यों को दबाकर या विकृत करके समाज को बंद और गुलाम बनाने वाले जातीय ढांचों में कैद रखने के लिए बनाई गई रणनीति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। यह सच है कि इतिहास में सभी समाज किसी-न-किसी तरह के वर्गीकरण से गुजरे हैं, लेकिन जैसा कि डोनाल्ड ब्राउन अपने महत्त्वपूर्ण लेखन *हयार्की, हिस्ट्री एंड ह्यूमन नेचर* (1988) में बताते हैं, कि इस वर्गीकरण का स्तर हर समाज में एक समान नहीं था। कम वर्गीकरण वाले समाज अधिक खुले और समावेशी होते हैं, जिनमें अधिक अवसर और सामाजिक गतिशीलता होती है, जबकि भारत जैसे कठोर वर्गीकरण या पदानुक्रम वाले समाज औसतन बंद समाज होते हैं, जहां सिर्फ अभिजात्य वर्ग या ऊंची जातियों के परिवारों को ही विकास के अवसर मिलते हैं। अधिक खुले समाजों में सफलता व्यक्ति के कौशल और साहस पर अधिक निर्भर करती है और सफल या असफल व्यक्तियों की सफलताओं या असफलताओं से जुड़ी व्याख्याओं और तथ्यों के भंडार के रूप में इतिहास में रुचि को जन्म देती है। खुले समाजों में कालक्रम और जीवनियों के सही लेखन और वास्तविक चित्रण की प्रवृत्ति पाई जाती है, साथ ही सामान्य शिक्षा-दर्शन और सामाजिक-राजनीतिक विज्ञानों में ऐतिहासिक परिवर्तनों की गति व दिशा और संभावित बदलावों के अनुमान सहित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से मानव प्रकृति की सार्वभौमिकता संबंधी विचार में आस्था पाई जाती है।

इसके विपरीत बंद समाज, जिसके लिए पूर्व-आधुनिक और जातिवादी भारत एक बढ़िया उदाहरण बनता है, में व्यक्ति सांकेतिक रूप से दिखाए जाते हैं, व्यक्तियों को उनके व्यक्तिगत गुणदोषों से नहीं, बल्कि उनके जाति आधारित और वर्गीय प्रतीकों से पहचाना जाता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण खुद महिषा की ही कथा है, जो कि उनके नाम से ही बहुत स्पष्ट है। महिषा एक इंसान हैं, लेकिन ब्राह्मणवाद की नजर में वे भैंस (वो मवेशी जो कि तात्कालिक पशुपालक समाज में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था) से अलग नहीं हैं। महिषा को भैंस तक सीमित कर दिया गया है, उनका नाम ही महिषा रख दिया गया है, जिसका अर्थ संस्कृत में भैंस होता है। एक बंद समाज में साहित्य, कला आदि में अत्यंत अलंकृत, प्रतीकात्मक और वास्तविकता से दूर चित्रण (जो कि दुर्गा-महिषा से जुड़ी कला और साहित्य में स्पष्ट नजर आता है) करते हुए शासक वर्ग का उद्देश्य ही यह था कि समाज और संस्कृति के बारे में भ्रमजाल और रहस्य प्रचारित किए जा सकें और लोगों को सच्चाई और ऐतिहासिक

तथ्यों से दूर रखा जा सके। इसके लिए भारत जैसे बंद समाज ने परंपरागत रूप से ऐतिहासिक तथ्यों के बदले मिथकों और कथाओं को, जीवनियों के बदले मिथकीय चरित्र-चित्रण को, सच्चाई की बजाए मूर्तियों व प्रतीकों को, तर्क व विज्ञान की बजाए अंधविश्वास को और अधिसंख्यों की शिक्षा के बदले चंद लोगों की शिक्षा को एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप से, मानवता और समता के बदले जातिवाद और लिंगभेद को महत्त्व दिया।

यह बताता है कि भारतीय ब्राह्मणों ने सिर्फ इतिहास-पुराण ही क्यों लिखे, जो कि ऐतिहासिक दस्तावेजों के विपरीत मनगढ़ंत विवरण भर होते हैं और जो कि सच्चाई को उजागर करने की बजाए उसे छुपाते अधिक हैं। मुद्दा यह नहीं है कि मिथकशास्त्र अनावश्यक है या इतिहास की तुलना में हीन है, न ही यह विचार का कोई हीन तरीका है जैसा कि कई परंपरावादी सुझाते हैं, लेकिन यह इतिहास का विकल्प नहीं हो सकता। लौकिक को अलौकिक से मिलाकर और तथ्य को गल्प से मिलाकर मिथक असल में हमें वह पढ़ने की सुविधा देता है, जो हम पढ़ना चाहते हैं, लेकिन अगर एक समाज सिर्फ मिथकों के ही सहारे छोड़ दिया जाए तो इतिहास को समझना लगभग असंभव ही हो जाएगा। हर कोई मिथकों में कुछ भी पढ़ सकता है और यही मूल रूप से ब्राह्मणी शास्त्रकारों का उद्देश्य भी था, ताकि वास्तविक इतिहास को छुपाया जाए और जहां तक संभव हो, वास्तविक घटनाओं सहित उन घटनाओं में उनकी अपनी घृणित भूमिकाओं को छुपाया जा सके ताकि वास्तविक इतिहास का पुनर्निर्माण न किया जा सके।

इस समझ से इस बात की एक संभावित व्याख्या मिलती है कि क्यों ब्राह्मणों ने स्वयं के और भारत के इतिहास को गल्प की तरह लिखा, न कि इतिहास की तरह। यह बताता कि उन्होंने हर तरह के मिथक और कथाएं लिखीं, लेकिन इतिहास या जो कुछ वास्तव में घटित हुआ, उसका विवरण क्यों न लिखा। उदाहरण के लिए जाति व्यवस्था के उद्गम को ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में मिथक के द्वारा समझाया गया है। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को किसी अलौकिक सत्ता पर आधारित बतलाने की प्रवृत्ति और मिथकीय चरित्रों से उद्गम के झूठे दावों सहित अन्य मिथकीय प्रचार उनकी बड़ी योजना के लिए आवश्यक थे, जिसके तहत लोगों को इस बात के प्रति अंधेरे में रखा जा सके कि वे कैसे जाति व्यवस्था के गुलाम हो गए। मिथकों को इतिहास (जहां सही नाम, तथ्य और कालक्रम बद्धता जरूरी होते हैं और जहां अतीत को वास्तविक घटनाओं के प्रति एक वस्तुनिष्ठ नजरिये से निर्मित किया जाता है) की तुलना में महत्त्व देना जरूरी हो जाता है ताकि कुरूप ऐतिहासिक तथ्यों को छुपाया जा सके। जिन शास्त्रकारों ने ये भ्रमजाल रचे उन्होंने जनसामान्य से अपने नाम छुपाकर रखे। यह बात चौंकाती है कि अधिकांश ब्राह्मणी ग्रंथ या तो अनाम हैं या काल्पनिक और झूठे नामों से लिखे गए हैं। उदाहरण के लिए मनुस्मृति के वास्तविक

लेखक का नाम मनु नहीं है। (इसके लिए मेरी किताब *डीब्राह्मनाइजिंग हिस्ट्री* (2005) 2015: 131 देखें)।

लोकजीवन में इस तरह से इतिहास की बजाए भ्रमपूर्ण कहानियों और कथाओं को प्रचारित करके और वास्तविकता व मिथक के बीच के अंतर पर पर्दा डालकर ब्राह्मणों ने उस संभावना को ही नष्ट कर दिया, जिससे कि समाज और समाज के जीवन के संबंध में कोई अर्थपूर्ण चर्चा हो सकती थी। कई पुराणों में घटनाओं का विवरण भविष्य काल में मिलता है, जबकि वे वर्णन घटना होने के कहीं बाद में लिखे गए हैं। इसी तरह का भ्रमजाल और रहस्य निर्माण धर्मशास्त्रों में, रामायण-महाभारत जैसे संस्कृत ग्रंथों सहित अन्य ग्रंथों में भी मिलता है, जिनकी मूल प्रेरणा ही सामाजिक जीवन के विवरण और ब्राह्मणी प्रस्तावनाओं का घालमेल बनाने की है। चुनिंदा तथ्यों में गल्प की बुनाई इतनी षड्यंत्रपूर्ण थी कि जातिविरोधी गैर-ब्राह्मणी परंपराएं, विशेषकर बौद्ध-श्रमण आंदोलन या तो इतिहास से लुप्त ही कर दिए गए या दबा दिए गए या अधिक से अधिक तात्कालिक संदर्भों में विकृत ढंग से पेश कर दिए गए। उदाहरण के लिए पौराणिक साहित्य में अशोक, जो कि इतिहास का सर्वाधिक प्रतापी सम्राट था, उसे एक घृणित बौद्ध और एक तिरस्कृत शूद्र की तरह चित्रित किया गया है। ब्राह्मणवादी दृष्टि में अशोक का मौर्य वंश शूद्र-प्रयास्त्व अधार्मिक व मूलतः शूद्र और अन्यायी था। ब्राह्मणी दस्तावेज अशोक को दस-बारह शताब्दियों तक पूरी तरह उपेक्षित ही रखते हैं, जब तक कि उसके प्रभाव का भय पूरी तरह से न मिट गया। भारतीय इतिहास से मिटा दिए गए अशोक को उसके शिला लेखों और श्रीलंका के दस्तावेजों से खोजा गया।

अशोक के आराध्य बुद्ध को भी कोई बेहतर प्रतिसाद नहीं मिला, ब्राह्मणवादी ताकतों ने बौद्ध विचारधारा और आंदोलन को आपराधिक षड्यंत्रों और सदियों में फैली विराट हिंसा के द्वारा खत्म करने का प्रयास किया, जैसा कि मेरी किताब *डीब्राह्मनाइजिंग हिस्ट्री*, [(2005) 2015] और गियोवानी वेरार्दी की *हार्डशीप एंड डाउनफॉल ऑफ बुद्धिज्म इन इंडिया* (2011) ने दिखाया है। इनमें यह भी दिखाया गया है कि आधुनिक अभिजात्य इतिहास लेखन भी किस तरह भारतीय इतिहास को छुपाने में शामिल रहा है। ब्राह्मणवाद न केवल भारत से बौद्ध धर्म को खत्म करने में सफल रहा बल्कि बुद्ध की ऐतिहासिकता को भी उसने खत्म कर दिया। यह इतिहास इस कदर मिटाया गया कि उन्नीसवीं सदी के आरंभ में इतिहासकारों में बुद्ध की ऐतिहासिकता के बारे एक बहस चली थी कि बुद्ध भारतीय भी थे या नहीं! बुद्ध बाद में सदियों के बलात् विस्मरण से दुबारा निकाले गए, वह भी एक ऐसे देश में जिसके पंडित अपनी महान बौद्धिक विरासत का बड़े गर्व से प्रचार करते हैं।

ब्राह्मणों ने न सिर्फ स्पष्ट कालक्रमबद्धता का या घटनाओं के क्रम का हिसाब ही नहीं रखा, बल्कि अपने संभावित विरोधियों के दस्तावेजों और साहित्य को भी नष्ट

कर दिया। उन्होंने भारतीय संस्कृति को ब्राह्मणी ढांचे में ढालने के लिए बड़े पैमाने पर फर्जीवाड़ा किया। उन्होंने तथ्यों को दबाया, नाम बदले, स्थानों और कालखंडों को धुंध में रखा, झूठे आंकड़े फैलाए, काल्पनिक वंशावलियां रचीं, अपने ही वेदों-पुराणों का बार-बार मूल्यांकन किया और उनमें बदलाव किए, महाभारत और रामायण को अपनी संस्कृति और संस्कृत में ढाला और सबसे बढ़कर बाकी सभी विरोधी स्वरों और संभावनाओं को बर्बरता से नियंत्रित किया। [इसके विस्तार और इस बिंदु के चित्रण के लिए, मेरी किताब *नॉलेज एंड पॉवर* (2014:194-209) और *डीब्राह्मनाइजिंग हिस्ट्री* (2005) 2015: 134-8. देखें]

जब बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणवाद को चुनौती दी थी, उस दौर के ऐतिहासिक तथ्यों को मिटाकर और उन लोगों की स्मृति को मिटाकर, जो कि दुश्मन माने गए और इसी कारण जिन्हें समाज व्यवस्था में नीचे धकेलकर जाति व्यवस्था में बाँध दिया गया, ब्राह्मणों ने वास्तव में घटित इतिहास को जानने की पूरी संभावना को ही नष्ट कर दिया। इसकी बजाए उन्होंने भारत को उन कपोल-कल्पनाओं और मिथकों के जरिये कुप्रचारित किया, जिनके जरिये असली इतिहास को छुपाया गया है, साथ ही सदियों तक शास्त्र और पुराणों में भी तेजी से बदलाव किए गए और उन्हें दुबारा लिखा गया ताकि उनमें ऐतिहासिक रूप से गलत तत्त्व जोड़े जा सकें, जो कि ब्राह्मणी आधिपत्य को बनाए रखने में उपयोगी हों।

अंत में कहा जा सकता है कि भारत के इतिहास व संस्कृति का ब्राह्मणी कुप्रचार सत्ता की क्रूर राजनीति द्वारा संचालित था, ठीक उसी तरह जैसे आज हम आरएसएस की कुत्सित राजनीति को देखते हैं। यह सब संभव हो सके, इसके लिए यह जरूरी था कि जनता ऐतिहासिक सच्चाइयों से अनजान बनी रहे। जाति व्यवस्था और उस पर आधारित धर्म को स्थापित करने के लिए ब्राह्मणवाद ने जनता में अज्ञान को बढ़ावा दिया और स्त्रियों व निचली जातियों की मुक्तिदात्री शिक्षा को रोक दिया। यही वह परंपरा है, जिसे आरएसएस इतना सम्मान देता है और हिंदू राष्ट्रवाद के झंडे तले फैलाना चाहता है। इसके द्वारा भारतीय समाज व संस्कृति के बारे में पुराने और नए ब्राह्मणवादी मिथकों का पुनः आविष्कार और प्रचार असल में दमन की नई सत्ता का निर्माण करता है। संघर्षरत दलित बहुजन के लिए इन दमनकारी ताकतों के बारे में एक धारदार समझ रखना और इन ताकतों को सिरे से नकारना जरूरी है, ताकि मुक्तिकामी सांस्कृतिक आंदोलन को आरंभ किया जा सके और दुर्गा-महिषा की कथा का यह प्रति-पाठ असल में इसी मुक्तिकामी सांस्कृतिक संघर्ष का एक हिस्सा है।

(अंग्रेजी से अनुवाद : संजय जोठे)

भाषाविज्ञान की दृष्टि में महिषासुर

राजेंद्रप्रसाद सिंह

जैसा कि विदित है कि 'महिषासुर' मूल रूप से 'महिष' और 'असुर' शब्दों का संयोग है। 'महिष' का सर्वाधिक पुराना अर्थ 'महा शक्तिमान' है। यह 'मह्' धातु में 'इषन' प्रत्यय जोड़कर बना है, जिसमें गुरुता का भाव है। गुरुता का भाव लिए 'मह्' धातु से अनेक शब्द बने हैं; यथा महा, महान, महत्त्व, महिमा आदि। 'महिष' ऐसे ही शब्दों में से एक है।

भारत में जब राजतंत्र का विकास हुआ, तब 'महिष' का एक नया अर्थ 'राजा' हो गया। कारण कि धरती पर 'महा शक्तिमान' राजा ही होते हैं। इसीलिए रानी को आज भी 'महिषी' कहा जाता है। भारतीय वाङ्मय में 'महिष' का अर्थ 'भैंसा' पहली बार स्मृति-ग्रंथों में हुआ है। स्मृति-ग्रंथों से पहले कहीं भी 'महिष' का अर्थ 'भैंसा' नहीं मिलता है। 'महिष' का अर्थ 'भैंसा' होना भाषाविज्ञान में अर्थापकर्श का नमूना है।

शब्दों के अर्थ परिवर्तित होते रहते हैं। कभी वह ऊपर उठ जाता है, कभी ज्यों का त्यों रहता है तथा कभी नीचे आ जाता है। भाषाविज्ञान स्थापित करता है कि अर्थ-परिवर्तन का एक कारण नस्लीय भेदभाव भी है। चूँकि पुराने समय के प्रायः राजा नस्लीय वर्ण के आधार पर काले रंग के थे और अनार्य थे, इसलिए 'महिष' का एक अर्थ रंग के आधार पर 'भैंसा' भी हो गया।

निष्कर्ष यह है कि वर्तमान में 'महिष' के मुख्य रूप से तीन अर्थ प्रचलित हैं - 1. महाशक्तिमान 2. राजा और 3. भैंसा। इस प्रकार 'महिष' का अर्थ-विकास तीन चरणों में हुआ है। इसका अर्थ 'महा शक्तिमान' पहले चरण का है। दूसरे चरण में इसका अर्थ 'राजा' हुआ और तीसरे चरण में इसका अर्थ-विकास 'भैंसा' के रूप में हुआ है। जिस समय में इस देश के राजा असुर (काली नस्ल वाले लोग) हुआ करते थे, उस समय में 'महिष' का अर्थ द्वितीय चरण से गुजर रहा था। इसलिए माना जाना चाहिए कि महिषासुर का आविर्भाव-काल इसी द्वितीय चरण में है। 'महिषासुर' का सही अर्थ 'असुरों का राजा' है, 'भैंसासुर' नहीं। 'भैंसासुर' उसे तब कहा जाने

लगा, जब 'महिष' शब्द अपने अर्थ-विकास के तृतीय चरण से गुजर रहा था।

अब आइए, 'असुर' शब्द पर विचार करें। 'असुर' का पुराना और सही अर्थ 'राक्षस' नहीं है। वैदिक कोश में लिखा है कि असुराति ददाति इति असुरः अर्थात जो असु (प्राण) दे, वह असुर (प्राणदाता) है। संस्कृत के प्रख्यात कोशकार वी.एस. आप्टे ने भी 'असु' का अर्थ 'प्राण' किया है। हिंदी के प्रसिद्ध कोशकार रामचंद्र वर्मा भी इस अर्थ से सहमत हैं। दरअसल हिंदी और संस्कृत का 'असुर' शब्द इसी 'असु' (प्राण) शब्द से निर्मित हुआ है। 'असुर' का निर्माण ''असु+र'' से हुआ है, जबकि कुछ लोगों ने भ्रमवश इसे ''अ+सुर'' से निर्मित माना है। 'असुर' शब्द 'असु' में 'र' जुड़ने से बना है। यह 'सुर' (देवता) में 'अ' (नहीं) जुड़कर नहीं बना है।

आइए, इसे एक उदाहरण से समझें। 'असर' का अर्थ 'प्रभाव' होता है। यदि कोई नासमझी के कारण इसकी व्याख्या 'अ (नहीं) सर (महाशय)' अर्थात जो महाशय नहीं हो, करे तो आप इसे क्या कहेंगे? वैसे ही 'असुर' का 'असु' (प्राण) मूल शब्द है। इसमें से 'अ' (नहीं) को अलग नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा करते हैं तो भाषाविज्ञान के अनुसार आप 'भ्रामक व्युत्पत्ति' के शिकार हैं। 'सुर' (देवता) का निर्माण अज्ञानवश हुआ है। 'असुर' मौलिक शब्द है। इसमें 'सुर' कहीं से स्वतंत्र रूप से जुड़ा हुआ नहीं है। पुराने समय में 'सुर' शब्द का अस्तित्व नहीं था। इसलिए वेदों में भी इंद्र का एक विशेषण 'असुर' ही है। 'असुर' का अर्थ 'राक्षस' गलत है तथा बाद का है। महिषासुर में जो 'असुर' शब्द है, वह राक्षस का नहीं, अपितु 'प्राण' का द्योतक शब्द है।

महिषासुर भारतीय इतिहास का ऐतिहासिक नायक है। प्रसिद्ध इतिहासकार डी.डी. कोसांबी के इतिहास-ग्रंथ के पन्नों पर महिषासुर को कई बार रेखांकित किया गया है। महिषा की स्मृति में बने अनेक मिट्टी के मंदिरों के चित्र उसमें अंकित हैं, साथ ही उसमें दुर्गा से उसके संबंधों का भी अंकन है। सत्य है कि आज महिषासुर एक ऐतिहासिक चरित्र से मिथक बन चुका है, मगर ध्यान रहे कि इतिहास के अति लोकप्रिय नायक मिथक हो जाया करते हैं। महिषासुर का इतिहास तो लोकमानस की यादों में जीवित है, उसे इतिहास-ग्रंथों में खोजना बेईमानी है। कारण कि प्रायः इतिहास-ग्रंथ उसके विरोधियों द्वारा प्रायोजित हैं।

जैसा कि हम कह आए हैं कि महिषासुर का एक नाम बाद में चलकर 'भैंसासुर' भी हो गया। भारत में भैंसासुर के नाम पर कई गांव बसे हैं और कई चौक-चौराहे तथा मोहल्ले भी हैं। ये सब महिषासुर के ऐतिहासिक चरित्र होने के प्रमाण हैं। झारखंड के पलामू जिले के मनातु प्रखंड के अंतर्गत पद्मा पंचायत में भैंसासुर गांव है। एक भैंसासुर गांव उत्तर प्रदेश के पीलीभीत जिले के अंतर्गत पूरनपुर विधानसभा क्षेत्र में भी है।

मध्यप्रदेश भी भैंसासुर गांव के कई प्रमाण समेटे हुए है। मध्यप्रदेश की तहसील

अंतागढ़ में भैंसासुर गांव है। ऐसे ही सतना जिले के मैहर थाना क्षेत्र के अंतर्गत भी ग्राम भैंसासुर है। जिला महोबा प्रखंड चरखारी में भी भैंसासुर कस्बा है। स्वयं महोबा भी महिषासुर की स्मृति में बसाया गया नगर है। महिषासुर को डी.डी. कोसंबी ने 'म्हसोबा' लिखा है। यही म्हसोबा ही नगर महोबा है। महोबा का क्षेत्र महिषासुर की स्मृतियों से पटा हुआ है।

कई नगरों में भैंसासुर की स्मृति में तिराहे और चौराहे हैं। मध्यप्रदेश के जबलपुर में 'भैंसासुर तिराहा' है और बिहार के शहर बिहारशरीफ में 'भैंसासुर चौराहा' है। भारत के कई स्थलों पर महिषासुर के पूजा-स्थान हैं। सीहोर शहर के निकट इछावर मार्ग पहाड़ी पर भैंसासुर बाबा का स्थान है। मध्यप्रदेश के छतरपुर में भैंसासुर मुक्तिधाम है।

दूर की बात छोड़िए, बनारस में भी भैंसासुर का मंदिर और घाट है। मध्यप्रदेश के टीकमगढ़ जिले के पास एक बड़ागांव कस्बा है। यहां 'भैंसासुर का मंदिर' है। वह मंदिर भैंसासुर की मड़िया के नाम से जाना जाता है। भैंसासुर बाबा नगर के देवताओं के प्रमुख हैं। वे आल्हा सुनते हैं। भारत की कई नदियों, टीले और पोखर में भी भैंसासुर बाबा बसे हुए हैं। कहां-कहां इतिहास उन्हें मिटाएगा? झारखंड और बिहार से लेकर महाराष्ट्र तक आप बाबा भैंसासुर के दर्शन कर सकते हैं। सच मिटाए नहीं मिटता। वह अपना निशान कहीं-न-कहीं छोड़ जाता है - टीलों पर, पत्थरों पर, डीह-डिहवारों में।

दुर्गा का मौलिक स्वरूप

नूतन मालवी

दशहरे से पहले नवरात्रि का उत्सव - देवी दुर्गा का उत्सव - एक देशव्यापी उत्सव है। ब्राह्मण मिथकों और इतिहासबोध से प्रभावित मीडिया और जानकारी के अन्य स्रोत, आम मानस में नवरात्रि के ब्राह्मणवादी इतिहास/मिथकीय इतिहास को प्रचारित-प्रसारित करते रहे हैं, हालांकि यह इतिहास का विकृतिकरण है। दुर्गा की जो प्रतिमा बनाई जाती हैं, उनमें दिखाया जाता है कि वे शेर पर बैठकर महिषासुर को मार रही है, उनके गले में मुंडों का हार है, लेकिन उनकी मुद्रा शांत है। वे बड़ी शांति से महिषासुर को मार रही है। यह प्रतिमा क्या दिखाती है, एक शांत हत्यारिन?

भारत के बहुजन समाजों में देवियों की गण परंपराएं हैं। लेकिन ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक वर्चस्व के कारण उन्हें एक दूसरा ही रूप दे दिया गया है। सन 2015 में 'लोकप्रभा' नामक प्रसिद्ध मराठी पत्रिका और 'आजकल' नामक एक हिंदी पत्रिका अपने-अपने नवरात्रि विशेषांक लेकर आईं। दोनों में मुझे बड़ी रोचक कहानियां मिलीं। 'आजकल' में महाराष्ट्र की देवियों की 'पीठों' का उल्लेख है। लिखा है : 'देवी भागवत' के अनुसार आदिशक्ति के रूप में देवियों की 51 पीठें हैं, जिन्हें शक्तिपीठ कहा जाता है। उनमें से एक पाकिस्तान में, एक बांग्लादेश में, एक श्रीलंका में, एक तिब्बत में, दो नेपाल में और 42 भारत में हैं। बची हुई तीन शक्तिपीठों के बारे में जानकारी नहीं है।

दुर्गा के दूसरे नाम भी हैं- कोल्हापुर या करवीर की महालक्ष्मी, विदर्भ में माहुर की रेणुका माता, तुलजापूर की तुलजाभवानी और विदर्भ में चंद्रपुर के पास के वणी गांव की महिषासुरमर्दिनी, सप्तश्रृंगी देवी आदि। इन तीनों पीठों के साथ, नासिक की सप्तश्रृंगी देवी को ब्रह्मस्वरूप पीठ कहा जाने लगा है। इन देवियों के अनेक नाम हैं - जैसे त्रिगुणात्मक महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, जगदंबा, अंबा आदि। फिर इन देवियों के मिथकीय आख्यान रचे गए। देवी को अठारह भुजावाली, मांग में फिर सिंदूर भरी हुई, रक्तवर्ण की आठ फुट की मूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। बताया जाता है कि इस देवी को सभी देवों ने मिलकर शस्त्र दिए, ताकि वह महिषासुर

से युद्ध कर सके, लेकिन यह ब्राह्मणों का रचा आख्यान है।

नीरज सालुंखे (लोकायत प्रकाशन, दिसंबर, 2002) देवियों को गणनायिकाओं के रूप में व्याख्यायित करते हुए कहते हैं, ''भारतीय इतिहास में पुरातन का बड़ा महत्त्व है। उसके आकलन के लिए भारतीय साहित्य और मिथकों की तरफ जाना पड़ता है। मूलनिवासी एशियाई जनों के कर्मकांडों को अपने अनुरूप ढालकर आक्रमणकारी आर्यों ने अथर्ववेद लिखा। मूलतः पशुपालक आर्य, हड़प्पा की प्रगतिशील संस्कृति की तरफ आए थे। इस प्रगतिशील संस्कृति के नियमों की, जीवनपद्धति की समझ उन्हें नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपनी प्रथा-परंपराएं रचित करते वक्त हड़प्पा संस्कृति के बहुत से प्रतीक उधार लिए, लेकिन इन प्रतीकों को उन्होंने अपनी नई परंपराओं में तुच्छ स्थान दिया। उनके प्रति घृणा व द्वेष का निर्माण करने वाली बेतुकी कहानियां रचीं।'' लेकिन ये प्रतीक, दबे रूप में ही सही, अपनी मूल कहानियां तो बताते ही हैं।

निर्ऋति नामक गणनायिका के साथ भी आर्यों ने ऐसा ही किया। निर्ऋति को कृषि की देवी माना जाता है, लेकिन वैदिकों ने इसे बहुत घृणा से देखा। 'अमरकोश', निर्ऋति को नरक की देवी मानता है। विंध्य के दक्षिण के प्रदेश को तिरस्कार से पाताल या नरक माना जाता था। इस अर्थ में दक्षिणात्य लोग नरक में रहते हैं। प्रसिद्ध मराठी लेखक और सत्यशोधक तथा कम्युनिस्ट शरद पाटिल, नरक का अर्थ 'नरगण' के अपत्य (संतान) के रूप में करते हैं। इसका मतलब, मूलनिवासी भारतीय 'नर' नाम से जाने जाते थे। बाद में नरक शब्द का अर्थ 'पापियों का मृत्युलोक' कर दिया गया।

निर्ऋति का पिशाचों से नजदीक का संबंध है। सातवाहन वंश के शासनकाल में, वर्तमान महाराष्ट्र की भाषा पैशाची थी। उस वक्त महाराष्ट्र के लोग पिशाच नाम से पहचाने जाते थे और प्रथम भूत, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि भी कहलाते थे। वैदिक ब्राह्मण निर्ऋति से द्वेष करते थे और उससे डरते भी थे। निर्ऋति के साथ यम का उल्लेख आता है, क्योंकि यमराज नरक का प्रमुख है। निर्ऋति, यम, रेडा, उल्लू, वराह इन सबकी प्रतिष्ठा हनन की गई। रेड़ा या महिष का भी खूब तिरस्कार हुआ। डीडी कोसंबी भी निर्ऋति को मृत्यु की देवी मानते हैं। जैनों का 'कल्पसूत्र' बताता है कि महावीर का निर्वाण, निर्ऋति अमावस के दिन हुआ और इसलिए यह उनके लिए सबसे पवित्र दिन है। हड़प्पा संस्कृति के अब्राह्मण मूलनिवासी जैनों ने निर्ऋति को बहुत महत्त्व दिया। वह अब्राह्मणों की लक्ष्मी है। निर्ऋती का खेती से भी घनिष्ठ संबंध है। उसे काली मां व भूदेवी भी माना जाता है। इसके साक्ष्य मिलते हैं। वह वनस्पति व सृष्टि की निर्मात्री थी, इसलिए उसका रूप पृथ्वी का भी है। शतपथ ब्राह्मण में यह लिखा है।

निर्ऋति की पूजा एक आकारहीन पत्थर के रूप में होती थी। उसको सफलता की

देवी भी माना जाता था, उसका खेती के साथ संबंध वैदिक छिपा नहीं सके। 'क्षत्रीय' शब्द क्षेत्र मतलब 'हल' से बना है - यह स्थापना नीरज सालुंखे की है। शरद पाटिल, 'अब्राह्मण साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में लिखते हैं, ''सच तो यह है कि अथर्ववेद को 'क्षत्रवेद' या 'स्त्रीवेद' कहना और वेदोत्तर वाङ्मय को ब्राह्मण कहना, इसमें ही भारत के दो युग दिखाई पड़ते हैं। उपनिषदीय आध्यात्मवाद के निर्माता क्षत्रिय राजर्षि उनके परातत्व को वैश्वानर और विज्ञानमय पुरुष कहते थे, ब्रह्म नहीं। पंचाल का दार्शनिक राजर्षि प्रवाहन जैवालि, महाश्रोत्रिय ब्राह्मण उद्यालक आरूणी को बताता है कि सबसे आदिम शासन क्षेत्रों (स्त्रियों) का था। (पृष्ठ 104)।

इसका मतलब निर्ऋति, दुर्गा या अंबा (निर्ऋति नतिनी) नामक स्त्री शासकों का राज्य स्वतंत्र था और यह वैदिकों को स्वीकार्य नहीं था। दुर्गा का उच्च स्थान हमें बताता है कि कभी-न-कभी स्त्रीसत्तात्मक व्यवस्था थी। आधुनिक ग्रंथ जैसे 'दास शूद्रों की गुलामगिरी' (शरद पाटिल) 'रामायण महाभारत का वर्ण संघर्ष' (शरद पाटिल), 'मिथक और यथार्थ' (डीडी कोसंबी), 'आर्टीकल ऑफ तुलजाभवानी' (राजकुमार घोगरे), 'दैत्य बली और कुंतल देश महाराष्ट्र' (नीरज सालुंके) तथा 'बलिराज्य' और 'गुड़ी और शिव पार्वती' (डॉ. एएच सालुंखे) आदि भी यही बात कहते हैं।

उस काल में कई स्त्री-प्रधान राज्य थे। सिंधु नदी के आसपास गणनायिका निर्ऋति का (दुर्गा जिसकी नतिनी थी), यमुना नदी के पास उर्वशी का, नर्मदा नदी के पास ताटिका (ताड़का) का, गोदावरी नदी के पास रावण की बहन शूर्पनखा का, पंचगंगा नदी के पास अंबा का और तेरणा मांजरे नदी के पास तुलजा का। निर्ऋति ने खेती की खोज की, उसने बांध बनाए, क्योंकि उस वक्त खेती और पशुपालन ही जीवन निर्वहन के मुख्य साधन थे। देवराज इंद्र उसे परेशान करने के लिए बांधों को तोड़ डालता था। हाथों की उंगलियों से अनाज साफ करने वाली किसान रानी शूर्पनखा, आज की नासिक की सप्तश्रृंगी देवी मानी जाती है। मराठी में मावलाई (देवी) से मावला शब्द आया। शिवाजी के सैनिक 'मावला' कहलाते थे। तुला यानी गिनना। अपने राज्य में समभाव से सबको गिनने वाली तुलजा-भवानी, जो राजा शिवाजी का प्रेरणास्रोत रही हैं, ये सब गण नायिकाएं थीं, पराक्रमी महिलाएं थीं, उनको वैदिकों ने तुच्छतापूर्वक दिखाया है, क्योंकि उस वक्त स्त्री का राज था, सब जगह स्त्री का अधिकार चलता था।

''महाकाव्यकालीन (ईसा पूर्व 1000 से 800 तक) गणराज्यों में अपत्य (संतान) का वर्ण पिता पर नहीं, माता पर निर्भर था (6-4.171)। यह तत्कालीन भाषा से सिद्ध होता है'', (अब्राह्मण साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, शरद पाटिल, पृ. 105)। बाद में महाभारतोत्तर गणराज्य में अपत्य का वर्ण पिता से जुड़ना शुरू हो गया। 'समग्र स्वातपय व समता' में पाटिल, स्त्रीसत्ता के स्वातंत्र्य के बारे में कहते

हैं, ''खेती की खोज स्त्रियों ने की। यही कारण है कि दुनियाभर के आद्य कृषक समाज स्त्रीसत्तात्मक थे और गणसमाज का प्रारंभ भी स्त्रीसत्तात्मक व्यवस्था से हुआ'' (स्त्री राज्य, शरद पाटिल, नवभारत, सितम्बर-अक्टूबर, 75, दास शूद्रों की गुलामगिरी, भाग 1, पृ. 135-179)।

अब राबर्ट ब्रिफा, डब्ल्यू. राबर्टसन स्मिथ, जार्ज थामसन आदि ने यह सिद्ध किया है कि स्त्रीसत्तामक गणसमाज में स्त्री वर्ण, उत्पादक, शासक और पुरोहित था, इसलिए वह स्वतंत्र था। (वहां मुक्त संभोग था, जिस पर सम्राट अशोक ने पाबंदी लगाई), लेकिन पुरुषवर्ण अनुत्पादक, अशासक व अपुरोहित था, इसलिए राजकीय दृष्टिकोण से परतंत्र था। इस समाज में अतिशेष उत्पादन, खेती, शिकार व युद्ध आदि से मिले 'गणधन' का कुल की गणराज्ञी, स्त्री व पुरुषों में समान बंटवारा करती थी। इस तरह, आर्थिक समता तो थी, लेकिन स्त्रीवर्ण के स्वातंत्र्य और पुरुषवर्ण की परतंत्रता का द्वैत भी था। इसी द्वैत से स्त्रीसत्तात्मक पद्धति का अभ्युदय हुआ और स्त्रियों का गणराज्ञी का रूप सामने आया - निर्ऋति, दुर्गा, रोहिणी, उषा, उर्वशी, सात जलदेवता (सातीआसरा) आदि हमें हमारी बहुजन परंपराओं में दिखती हैं।

'एक्सकवेशन्स एट हड़प्पा सील 25', एमएस वेट्स के अनुसार हड़प्पा में सात स्त्री मूर्तियां एक साथ दिखती हैं। ऐसी ही सील वेरूल, एलोरा, जिला औरंगाबाद महाराष्ट्र में भी मिली हैं। इन सप्तमूर्तियों की कृतिका नक्षत्र, 'साती आसरा' (सप्त जलदेवता), सप्तकृतिका या स्कंदमाता के रूप में ग्रामीण स्त्रियां आज भी पूजा करती हैं। इनके बारे में महात्मा फुले ने भी बताया है। घटस्थापना (कलश स्थापना), जो दुर्गा पूजा के वक्त होती है, उसका संबंध स्त्री के गर्भ से है। जब स्त्रीसत्तात्मक समाज में मुक्त स्त्री-पुरुष संबंध थे, तब स्त्री का गर्भाधारण महत्त्वपूर्ण माना जाता था। प्रजनन की शक्ति के कारण स्त्री को अलौकिक, प्राकृतिक शक्तिवाली महान देवी माना जाता था। आगे चलकर स्त्रियों की इस शक्ति की पूजा होने लगी। स्त्री के इस नैसर्गिक गुण का गणसमाज ने सम्मान किया और उसे श्रेष्ठपद देकर गणनायिका (मुख्य रानी) के स्थान पर रखा। स्त्री गर्भ की पूजा लंबे समय तक जारी रही। भूमि में बीज के अंकुरण को गणसमाज, नैसर्गिक शक्ति मानता था, जिसे वह स्त्री के गर्भाधान से जोड़कर देखने लगा और इस तरह भूमि और स्त्री के सम्मान की परंपरा रूढ़ हो गई; स्त्री शासक, उत्पादक, पुरोहित बनती गई। आज स्त्री का सम्मान केवल कर्मकांड तक सीमित रह गया है, लेकिन गणसमाज - असुर, पिशाच व राक्षसगण - स्त्री को वास्तविक सम्मान देता था। इस प्रकार देवियों का उद्भव हुआ। डॉ. आ.ह. सालुंखे ने 'गुड़ी और शंकर पार्वती' में लिखा है कि 'पार्वती का संबंध दुर्गा से है।'' इसके लिए उन्होंने अनेक कथाओं का, पुराणों का संदर्भ दिया है। 'देवी भागवत' (संपादक पं. श्री रामतेज पाण्डेय, चौखंभा प्रकाशन, विद्या भवन चौक, वाराणसी, अध्याय 14-25) में देवी के नवरात्र के बारे में कथा, ध्वजोत्सव के संदर्भ में

महत्त्वपूर्ण है। देवी पुराण में चैत्र, अमावस और प्रतिपदा का दिन देवी के नवरात्र उत्सव का दिन बताया गया है। दक्षिण भारत में फाल्गुन अमावस में देवी व्रत करते हैं, उत्तर भारतीय पूर्णिमांत मास के दूसरे दिन, चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को चैत्र नवरात्र शुरू करते है। डॉ. सालुंखे महाराष्ट्र मे मनाए जानेवाले गुड़ीपाड़वा नामक त्योहार में गुड़ी के रूप में पूजी जानेवाली देवी को देवी पार्वती मानते हैं। वे दुर्गादेवी को भी पार्वती मानते हैं। हमारे समाज में शंकर व पार्वती को क्रमशः सृष्टिकर्ता और जगमाता माना जाता है। डाक्टर आंबेडकर, 'रिडील्स इन हिंदूइज्म' में लिखते हैं, 'हम शिव का उदाहरण लें। यह एकदम साफ है कि मूलतः शिव वैदिक-विरोधी देव थे। इसका इससे बेहतर प्रमाण कोई नहीं हो सकता कि उन्होंने दक्ष के यज्ञ को नष्ट किया था' (पृष्ठ 105)।

प्रसिद्ध मराठी लेखक डॉ. रा.चि. ढेरे ने 'लज्जागौरी' (श्री विद्या प्रकाशन, पुणे, प्रथमावृत्ति, जून 1908, पृ. 19) में देवी के बारे में लिखा है, 'शक्ति उपासना का इतिहास, मानव इतिहास में अत्यंत प्राचीन है। मानव के जिस प्रथम देव की कल्पना की और उसे पूजा, वह स्त्री रूप में था। यह सर्जनवादी, गूढ़ शक्ति धारण की हुई देवी थी। वह मानव इतिहास की आद्य शक्ति है। उसे मानव ने अलग-अलग रूपों में देखा, अलग-अलग नामों से पुकारा, उसकी अलग-अलग प्रकारों से भक्ति की। शक्ति उपासना का इतिहास खोजनेवाले को अलग-अलग दृष्टिकोणों से इसकी खोज करनी चाहिए; मानव जीवन के अलग-अलग प्रवाहों, रास्तों, झुकावों व पड़ावों की खोज करनी चाहिए। शाक्तपंथ का इतिहास सबके सामने है। शाक्त सिर्फ तांत्रिक पंथों तक नहीं, भारतीयों के जीवन में व्याप्त है। ऋग्वेद के अदिति से लेकर आज दरवाजे की चौखट पर लिखे गीत-गान में भवानी, रेणुका आदि शक्तियों की महानता का वर्णन मिलता है। सिंधु नदी के पास मिली मातृमूर्तियां आज भी गांवों में ग्रामदेवता मानकर पूजी जाती हैं।'

अनेक विद्वानों ने अलग-अलग समय पर नवरात्र और देवियों के प्रति श्रद्धा के बारे में लिखा है। डॉ. सालुंखे यह मानते हैं कि चैत्र मास का यह उत्सव, जिसे गुड़ी पाड़वा, नवरात्र या शिव-पार्वती का विवाह मिलन आदि अनेक परंपराओं में देखा जा सकता है, बहुत प्राचीन है। यह अब्राह्मण संस्कृति से आया है। रावण के पुतले को जलाना या महिषासुर को मारते हुए देवी को दिखाना विकृति है। यह विकृतिकरण ब्राह्मण मानसिकता से हुआ है, यह स्पष्ट है।

महिषासुर और बली प्रतिपदा

गेल ऑम्वेट

दीवाली या 'रोशनी का त्योहार' फसल के बादवाले मौसम में आता है, जब दिन छोटे होने लगते हैं। पहला दिन गायों और भैंसों के सम्मान से जुड़ा है, दूसरे दिन ब्राह्मणवादी संस्कृति में महिषासुर की हत्या का जश्न मनाया जाता है, जो मूलतया 'देवों' और 'असुरों' के बीच संघर्ष का प्रतीक है। मिथकीय कथाओं के मुताबिक दोनों एक ही मां की संतानें हैं, लेकिन असुरों को मनुष्य के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। असुरों के पास स्थाई खेती थी, जबकि देव भोजन के लिए यहां-वहां भटकते थे और आजीविका के लिए पशुपालन पर निर्भर थे। तीसरा दिन 'बलि प्रतिपदा' है, यानी राजा बलि का दिन। ब्राह्मणवादी परंपरा बलि की हत्या का अभिनय दोहराती है, जबकि गैर ब्राह्मणवादी परंपरा बलि को याद करती है और उनकी वापसी चाहती है। ये सभी मिथक हैं और फुले ने इनको मिथक ही समझा। फुले ने मिथ और प्रति-मिथ का प्रयोग किया लेकिन इन दिनों प्रति-संस्कृति में बलि का प्रयोग ऐसे होता है, मानो उनकी कहानियां इतिहास का हिस्सा हों।

मराठी किसानों की एक पुरातन कहावत है, 'इडा पिडा जावो, बली का राज्य येवो' यानी कष्ट और दुःख को जाने दो, बलि का शासन आने दो। इस कहावत में बलि के शासन को समृद्धि और खुशहाली के राज्य के रूप में याद किया जाता है।

दशहरा पर गैर-ब्राह्मण बाहर जाते हैं और महिलाएं आप्टे वृक्ष की पत्तियां बटोरकर उन्हें हृदय के आकार में सजाती हैं, जो दिलों के जुड़ने का प्रतीक है। ब्राह्मण जाते हैं और वापस आ जाते हैं। घास की एक छड़ी लिए हुए लोग आटे से बने बलि के पुतले के पेट को कोंचते हैं। ये सारी बातें जाति व्यवस्था के मौजूदा दमन को लेकर विरोधाभासी दृश्य रचती हैं।

[अंग्रेजी से अनुवाद : पूजा सिंह]

महिषासुर, रावण और महाबली

भारत में राक्षसीकरण के विमर्शों एवं धारणाओं की वर्चस्ववादी परंपरा

अजय एस. शेखर

ब्राह्मणवादी वाग्जाल फैलाकर ईश्वर को राक्षस के रूप में पेश करना और राक्षसों को भगवान के रूप में स्थापित करना आतंकित करता है... – ***सहोदरन अयप्पन***

रामायण और *महाभारत* जैसे हिंदू महाकाव्यों में श्रीलंका को नीच लोगों के देश के रूप में चित्रित किया गया है, इसकी वजह श्रीलंका का बुद्ध धम्म का अनुयायी होना था। श्रीलंका सम्राट अशोक या उससे पहले से ही बौद्ध धर्म का अनुयायी रहा है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि श्रीलंका के बौद्ध सम्राट रावण ने हिंदू साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष किया जिसके चलते उन्हें दानव या असुर के रूप में चित्रित किया गया। मौर्य सम्राट अशोक की संतानें, महिंद्रा और संघमित्रा ने तीसरी सदी ईसापूर्व में सिलोन को शांतिपूर्वक और लोकतांत्रिक ढंग से बौद्ध धम्म का अनुयायी बनाया। सिलोन का बौद्ध वृतांत *महावंश* भी इस बात का जिक्र करता है कि स्वयं बुद्ध लंका गए थे और उन्होंने अपने 65,000 नीति वचनों में से कुछ वहां भी कहे थे। संभव है अशोक ने उन स्थानों पर धम्म के प्रतीक स्तूप एवं स्तंभ भी बनवाए हों, जहां बुद्ध ने ये नीति वचन कहे हों। इन स्तूपों और स्तंभों के शीर्ष पर सिंह उत्कीर्ण हैं (थापर 1998:68)। अशोक द्वारा बनवाए गए स्तंभों में 19 आज चीन में हैं। (चेन 1973:14)

चीनी तीर्थयात्री, विद्वान और अनुवादक ह्वेन सांग (602:664 ईस्वी) ने यहां तक लिखा कि केरल के वांची (या काडुनगल्लूर अथवा मुजिरीज) में भी एक ध्वस्त स्तंभ था, जहां शाक्य मुनि ने एक बार लोगों को संबोधित किया था। (पन्निकासरी 2001:61) स्थानीय इतिहासकारों के मुताबिक अशोक का प्राचीन स्तंभ आठवीं सदी के आरंभ में हिंदू उपद्रवियों और शैव कापालिकों ने नष्ट कर दिया था। धूर्त ब्राह्मणों ने इन लोगों को बौद्ध धर्म के विरुद्ध भड़काया था। स्तंभ के एक

लंबे हिस्से को वांची के उत्तर में मदीलकम या त्रिकाना मदीलकम में जैन मंदिर के सामने लिंग के रूप में स्थापित कर दिया गया। (कृष्णकुमार 2013:14) जब 16वीं और 17वीं सदी में पुर्तगाली और डचों ने मदीलकम मंदिर को लूटा और उक्त स्तंभ को अपने साथ फोर्ट कोचिन ले गए। वे अपने साथ ग्रेनाइट के बने दूसरे स्तंभ तथा अन्य चीजें भी ले गए थे, जिनका इस्तेमाल वे अपने जहाजों के लंगर के रूप में करते थे। बाद में ये चीजें इसी रूप में ब्रिटिशों के हाथ लगीं (सिल्वरी 2012:121)।

20वीं सदी के आरंभ में तिरुमलाई देवास्वम ने इस स्तंभ को ब्रिटिशों से प्राप्त किया और अब यह मटानचेरी में उदयनेश्वरम मंदिर में रखा हुआ है। इस स्तंभ का 17 फीट हिस्सा भूमिगत है, जबकि 4 फीट लिंग के रूप में सतह के ऊपर है। ऐसे ही विशालकाय लिंग उत्तरी केरल के त्रिषूर जिले के वरावूर में पाए गए हैं। स्थानीय इतिहासकार कहते हैं कि ऐसे विखंडित अशोक स्तंभ अथवा उनके बदले हुए स्वरूप केरल के तिरुनवाया और पट्टाम्बि मंदिर में भी मौजूद हैं। यह बात भी कमोबेश सभी को मालूम है कि ओडिशा के भुवनेश्वर स्थित भास्करेश्वर मंदिर में शैव समुदाय के लोगों ने मध्य युग के आरंभ में अशोक स्तंभ को एक दोमंजिला बाहरी ढांचे के साथ विराट लिंग में बदल दिया। इस अशोक स्तंभ का सिंह शीर्ष टूटी-फूटी हालत में राज्य संग्रहालय भुवनेश्वर में प्रदर्शन के लिए रखा गया है। अशोक स्तंभों को लिंग के रूप में बदलना ब्राह्मणीकरण के घृणित और हिंसक इतिहास को सामने लाता है। इस प्रकार बौद्ध मत का जन्मदाता भारत, जिसे इंदिरार देसम या इंदिरार की भूमि कहा जाता था, वह एक हिंदू केंद्रस्थल में बदल दिया गया। [गौरतलब है कि भारत में नवबौद्ध मत के अग्रदूत, अयोथी दास ने बुद्ध को इंद्रियों या पांच ज्ञानेद्रियों का विजेता कहकर संबोधित किया है। अयोथी दास ने सन् 1901 में नीलगिरी में शाक्य सोसाइटी की स्थापना की थी (गीता 2002, अलोयसिस 1998)।] पत्थर के ये विशाल लिंग ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की ताकत को परिलक्षित करते हैं, परंतु वे इस विनाश को आसपास के देशों में नहीं दोहरा सके।

श्रीलंका में जहां बुद्ध के श्री पद (पर्वत पर पवित्र पदचिह्न) प्रतिष्ठापित हैं, वह तीसरी सदी ईसापूर्व या उससे पहले से ही बौद्ध देश है। अरब के श्रद्धालु यहां आया करते और अदम नबी के चरणों की उपासना करते। भूमध्यसागरीय क्षेत्र और इटली के श्रद्धालु भी श्री पद आते थे। वे इसे अदम की चोटी (एडम पीक) कहते थे। इससे पता चलता है कि यह बौद्ध तीर्थस्थल अशोक के समय से ही प्रसिद्ध था। अशोक ने पश्चिम एशिया और ग्रीस या इटली की ओर कुछ बौद्ध मिशनरीज भेजे। संघमित्रा गया से बोधिवृक्ष ले गई और उसे अनुराधापुरा में लगाकर खुद उसकी देखरेख की। जो कला और वास्तु बाद के दिनों में अनुराधापुरा शैली के नाम से मशहूर हुआ, वह इसी बोधि वृक्ष के आसपास पनपा। चौथी सदी में कलिंग की राजकुमारी हेमामाला और राजकुमार दंतकुमार बुद्ध के अवशेषों में से एक दांत को

दांतापुरी (पुरी) से कोनकमाना (मौजूदा कोणार्क) और वहां से श्रीलंका में अनुराधापुरा के निकट अभयगिरी ले गए। बाद में उसे कैंडी में प्रतिस्थापित किया गया। भारत में बुद्ध के दांत तक को ब्राह्मणवादी ताकतों द्वारा नष्ट कर दिए जाने का खतरा मंडरा रहा था। बुद्ध के दांत की स्थिति की तुलना बोधि वृक्ष के इतिहास से की जा सकती है। बोधिवृक्ष भी हाथी, घड़ा और आनुष्ठानिक छत्र की तरह ज्ञान का प्रतीक है, छत्र को केरल में मुटुकोडा कहा जाता है। 11वीं सदी के आरंभ में एक चोल शैव हिंदू शासक ने बौद्ध लंका पर चढ़ाई करने की कोशिश की, लेकिन उसे विफलता हाथ लगी। हिंदू भारत से एक के बाद एक चढ़ाइयों के बावजूद लंका आज तक बौद्ध देश बना हुआ है।

पुष्यमित्र शुंग और शशांक जैसे ब्राह्मण शासकों ने गया के बोधि वृक्ष को काटकर, जला दिया। पुष्यमित्र एक ब्राह्मण सैनिक था, जिसने अपने सम्राट की हत्या की थी। शशांक भी ऐसा ही ऐसा ही एक लोलुप ब्राह्मण राजा था, जिसने मौर्य बौद्ध शासक की हत्या कर सत्ता पर कब्जा किया। बौद्ध धर्म भी अपनी जन्मभूमि से गया के बोधि वृक्ष की तरह समाप्त हो गया। यह काम ब्राह्मणवादियों द्वारा किया गया। उन्होंने यह काम अपनी भक्ति की शाखाओं जैसे कि शैव और वैष्णव भक्ति के माध्यम से किया। 19वीं सदी में एक अंग्रेज और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के पहले प्रमुख अलेक्जेंड कनिंघम बोधिवृक्ष फिर से रोपा और दोबारा उसके गौरवशाली दिन वापस दिलाए। उन्होंने ही बोध गया में महाबोधि धर्मस्थल पर बुद्ध की एक प्रतिमा को दोबारा रखवाया है। यह वह जगह थी, जहां से बुद्ध की मूर्ति हटाकर ब्राह्मणों ने एक लिंग की स्थापना कर दी थी। दशकों तक चली कानूनी प्रक्रिया और शांतिपूर्ण संवाद के बाद मई, 1891 में मंदिर को भी शैव ब्राह्मण पुजारियों के चंगुल से मुक्त कराने में सफलता मिली। श्रीलंकाई भिक्षु अंगारिका धर्मपाल ने महाबोधि सोसाइटी की स्थापना की और *लाइट ऑफ एशिया* के लेखक एडविन अर्नाल्ड की इसमें प्रमुख भूमिका रही। ध्यान देनेवाली बात है कि धर्मपाल का बंधुत्व भाव ही वह तत्व था, जिसने अयोथी दास जैसे व्यक्तित्वों का सृजन किया। दास ने अपनी दीक्षा सन् 1898 में सिलोन के महातेरो सुमंगल नायक से ली थी।

हालांकि हिंदू ब्राह्मणवाद ने बौद्ध धर्म की ज्ञानवान थेरवाद संस्कृति को भारत में समूल नष्ट कर दिया, लेकिन यह सिलोन, बर्मा और थाईलैंड में बची रही। बर्मा के वरिष्ठ थेरवाद भिक्षु यू चंद्रमणि ने ही 14 अक्टूबर, 1956 को डॉ. आंबेडकर को नागपुर में धम्म दीक्षा दिलाई। आंबेडकर थेरवाद के अध्ययन के लिए दो बार सिलोन और बर्मा गए। बौद्ध धर्म अपने प्रच्छन्न रूपों में अन्य जगहों पर भी बरकरार रहा। मसलन तमिलकाम की चिता अथवा सिद्ध परंपरा या फिर केरल में वज्रयान की तांत्रिक परंपरा में (डेविडसन 2002)। चूंकि हिंदुत्ववादी बौद्ध धर्म का पूर्ण उन्मूलन नहीं कर सके, तो उन्होंने अपना कोप अपने कल्पित साहित्य के माध्यम प्रकट करना

शुरू किया। उन्होंने लंका के लोगों को असुर या राक्षस के रूप में चित्रित करना आरंभ कर दिया। यह कुछ-कुछ वैसा ही है, जैसा कि टोनी मॉरिसन अपनी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृति *प्लेइंग इन द डार्क* में काले लोगों के संदर्भ में उल्लेख करती हैं। वे लिखते हैं कि अमेरिकन धर्म सिद्धांतों में काले लोगों को काली छायाओं और भूतिया मौजूदगी के रूप में चित्रित किया गया है। (मॉरिसन 1992:4)। रावण को राक्षस या असुर इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह ठीक महाबली या बंग (बंगाल) के महिषासुर की तरह, श्रीलंकाई बौद्ध नेता थे। ब्राह्मणवाद की वर्चस्ववादी बहस में दक्षिण भारत के पराजित बौद्धों का चित्रण बंदरों और भालुओं के रूप में किया गया है। हनुमान, बाली, सुग्रीव और जामवंत इसके उदाहरण हैं। ब्राह्मणवादियों ने उन दक्षिण भारतीय योद्धाओं को जानवरों के रूप में चित्रित किया, जिन्होंने वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया था। रावण और उसके राक्षस वंश के लोग साफ तौर पर बौद्ध थे। वे खासतौर पर ब्राह्मणवाद-विरोधी श्रीलंकाई थेरवादी बौद्ध थे।

चूंकि हिंदू ब्राह्मणवाद और उनका भयंकर लिंगपूजक शैव पंथ लंका को नहीं जीत सका, ऐसे में उन्होंने अपनी संतुष्टि के लिए महाकाव्य रचा, जिसमें राम वैदिक वर्णाश्रम धर्म या चातुर्वर्ण का आदर्श संरक्षक भगवान है। जिसने शूद्र शंबूक का सिर धड़ से अलग किया, क्योंकि वह पढ़ना सीख रहे थे। इन महाकाव्यों के अनुसार राम ने लंका पर जीत हासिल की और 10 सिर वाले असुर रावण को मारा। आज भी टेलीविजन पर बजाज के विज्ञापनों में रावण के पुतले जलाए जाते हैं और उसका दानवीकरण किया जाता है।

रावण के 10 सिर दरअसल बौद्धों की विस्तृत बौद्धिक और मानसिक शक्ति के उदाहरण हैं। उनके 20 हाथ बौद्ध शासक की रचनात्मकता और निर्माणशक्ति के द्योतक हैं, जो एक कुशल तकनीशियन, श्रमिक नेता, वास्तुकार और कलाकार या डिजाइनर भी हो सकता था।

दक्षिण भारत के प्रत्येक गांव में ऐसी श्रुतियां मौजूद हैं, जिनके मुताबिक राक्षसों या दानवों या फिर कहें भूतों ने ही तमाम पुराने और विशालकाय ढांचे निर्मित किए। इनमें प्राचीन मंदिर और नगरकोट शामिल थे। ये सभी इंजीनियरिंग और वास्तु की दृष्टि से बड़ी उपलब्धियां थीं, जिन्हें रावण, बाली और महिषासुर जैसे बौद्धों ने या कहें अवर्ण, अमना, चमना, श्रमना नेताओं ने बनवाया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन प्रतिभाशाली और शक्तिशाली जननेताओं ने वर्णाश्रम व्यवस्था के ब्राह्मणवादी क्षत्रिय शासकों को पीछे छोड़ दिया। तब ब्राह्मणवादियों ने उनको जानवर, राक्षस या दानव के रूप में चित्रित कर दिया। महिषासुर इस बात का उदाहरण हैं कि कैसे ब्राह्मणवादी विकृत मानसिकता ने एक व्यक्ति को जानवर के रूप में चित्रित किया। महज इसलिए क्योंकि वह पशुपालक असुर या अहीर/यादव या कहें अयर (दक्षिण भारत में) से ताल्लुक रखते थे, उन्हें आधे राक्षस, आधे

जानवर के रूप में चित्रित करते हुए महिषासुर नाम दिया गया। महिषासुर के जन्म की कथा का भी राक्षसीकरण किया गया और उन्हें पानी में रहनेवाली भैंस महिषी की संतान बताया गया। यह कुछ वैसा ही है जैसे आधुनिक मीडिया लालू का जानवरीकरण करे और एक बड़े जन नेता को भैंस तक सीमित कर दे। कांचा आयलैया अपनी पुस्तक *बफैलो नेशनलिज्म* तथा अन्य किताबों में यह उल्लेख करते हैं कि मौजूदा साइबर युग में भी नस्लीय विकृत चर्चा मौजूद है। महिषासुर और दुर्गा से संबंधित मिथक और विवादित बातें स्पष्ट करती हैं कि कैसे ब्राह्मणवादियों ने अधीनस्थों की यौनिकता का सहारा लेकर महिषासुर जैसे नायकों को मारा। यह मिथक यह भी बताता है कि किस प्रकार महिलाओं का उपयोग देशज पुरुषों को रिझाने और उनको मारने के लिए किया गया, यहां तक कि वर्तमान में तमाम लोकप्रिय सिनेमा और सीरियलों तक में महिषासुर मर्दिनी की छवि को प्रचारित किया जाता है। इसका पूरा संदर्भ हिंदूवादी फासिज्म के जरिए ब्राह्मणवाद की वापसी से जुड़ा हुआ है। अनैतिक अवैध संबंधों को वैधानिक ठहराकर देशज महिलाओं की सेक्स कालोनियां बनाई गईं, जिन्हें दक्षिण भारत में संबंधम नाम दिया गया। यह काम सबको आधिभौतिकवादी रुढ़िवादिता के चोले में अंजाम दिया गया, कहा गया कि पुरोहित भूदेव (यानी पृथ्वी का देव) के रूप स्वयं ब्रह्मा या परमशक्ति शूद्र महिलाओं से संबंध बनाते हैं और इस तरीके स्वयं उन स्त्रियों के शरीर में प्रवेश करते हैं। यह ब्राह्मणों के आंतरिक साम्राज्यवाद का उदाहरण है। ऐसी सेक्स कॉलोनियों की मदद से शूद्र स्त्रियों की अनवरत यौन दासता सुनिश्चित की गई और शूद्र पुरुषों के पितृत्व को लेकर भी अनवरत भ्रम की स्थिति निर्मित की गई। यह बात ब्राह्मणवादी वर्चस्व सुनिश्चित करने के लिहाज से अत्यंत आवश्यक थी। इसका मकसद यही था कि अगर एक बार जन्म को लेकर अस्पष्टता कायम हो गई तो शूद्र पुरुष कभी भी अपने पितृ पुरुषों, यानी ब्राह्मण पुजारियों, पर सवाल नहीं उठाएंगे। इन पदज अथवा शूद्रों से दासतापूर्ण स्वामिभक्ति की अपेक्षा की जाती और उनको कुत्तों, गधों या रेंगनेवाले जीवों के रूप में भी चित्रित किया जाता रहा है, जो उन पैरों को चाटते हैं, जो उन्हें दुत्कार रहा होता। दानवीकरण या जानवरीकरण का पूरा विमर्श एक दोधारी तलवार है, जो मनुष्य की रीढ़ पर वार करता है, यह पीड़ित को मनुष्यत्व से वंचित करता है और रक्तपिपासु की तरह उनका रक्त पीता है। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता भी एक दोधारी तलवार है। यह जाति और लिंग का दोहरा श्रेणीक्रम है, जो शूद्रों के रूप में आत्माविहीन मनुष्य रचता है। (शेखर 2008:23)

दक्षिण भारत में इस तरह के दैत्यीकरण के विमर्श का खास उद्देश्य बौद्ध भिक्षुणियों और भिक्षुओं को अलग-थलग करना था। बौद्ध भिक्षुणियों को राक्षिसिनी और पापिनी के रूप में चित्रित किया गया, उनके साथ बलात्कार किया गया, उनकी हत्या की गई या उनको देवदासी बनने के लिए बाध्य किया गया। उनको उन्हीं बौद्ध महायानी या

व्रजमानी मंदिरों में देवदासी बनाया गया, जिनको उनके गर्भ-गृह गमें विशालकाय लिंग या योनि रखकर हिंदू मंदिरों में बदल दिया गया था (जमनदास 2002:8) चूंकि भिक्षु-भिक्षुणियां लोगों को नैतिकता की शिक्षा देते थे और उन्हें ज्ञान देते थे, इसलिए उनको खासतौर पर निशाना बनाया गया, क्योंकि *मनुस्मृति* के अनुसार शूद्रों और अवर्णों के लिए शिक्षा वर्जित थी। भिक्षुणियां जाति और पुरोहितवाद के खिलाफ शिक्षा देती थीं। इन सब बातों के चलते वर्णाश्रम धर्म संकट में आ गया था।

यहां तक कि आज भी ठीक इसी तरह की बातों का इस्तेमाल सांप्रदायिक नरसंहारों और दंगे से पहले अल्पसंख्यकों के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है। इस तरह की हिंसा और नरसंहारों का विमर्श क्रिश्चियन मिशनरियों के धर्म-प्रचार और इस्लामिक पंथों के खिलाफ तेजी से फला-फूला है। 'घर-वापसी' का विमर्श इसी तरह का नारा था (गुरू 2015; रेघु 2015) जब संघ परिवार 'घर-वापसी' का अभियान चला रहा था, तब केवल न्यायप्रिय विद्वानों और गोपाल गुरू जैसे दलित बुद्धिजीवियों ने 'किस घर में वापसी' का प्रश्न उठाया था। आजकल उत्तर भारत और यहां तक कि कर्नाटक में दलित बच्चों और लेखकों पर विशेष तौर पर उच्च जातीय हिंदुओं द्वारा सीधा हमला बोला जा रहा है। (अक्टूबर 2015 के राष्ट्रीय दैनिक अखबार देखें)

बलि या महाबली या मवेली भी दक्षिण भारत के एक ऐसे ही नायक रहे हैं, जिनका चित्रण दानवी रूप में किया गया। महात्मा फुले ने बलि से जुड़े मिथक की सच्चाई को उजागर कर शूद्र और अतिशूद्र को ब्राह्मणवादियों की लोभी प्रवृत्ति से अवगत कराया। केरल में नारायण गुरू के एक प्रमुख शिष्य सहोदरन अय्यपन ने बलि के मिथक को आधुनिक युग में अपनी गीतात्मक-कविता *ओनापत्तु* के द्वारा पुनर्जीवन दिया। *ओनापत्तु* का अर्थ है ओणम का गीत। ओणम का त्योहार मावेली की वापसी से संबंधित है। मावेली एक महान शासक थे। हिंदू और वैष्णव ओणम को विष्णु के जन्म और विजय के रूप में मनाते हैं। श्रुतियों के मुताबिक विष्णु ने ब्राह्मण वामन बनकर उदार और दानी स्वभाव के शासक बलिराजा को ठगा था। उसने बलि का पूरा साम्राज्य धोखे से हड़पा और उनको पाताल लोक जाने पर मजबूर किया। यह धूर्त हिंदू अतिक्रमण की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यह सब दक्षिण भारत में हुआ, जो मवेली जैसे शासकों की भूमि थी। अपनी कविता में सहोदरन लोगों से अपील करते हैं कि वे वामन की लालची विचारधारा यानी ब्राह्मणवाद का परित्याग करें और बलि के नैतिक शासन की स्थापना करें। नैतिक या धार्मिक शासन और समतावादी परंपरा, जिसे मवेली ने उदाहरण के रूप में पेश किया, वह कुछ और नहीं, बल्कि दक्षिण भारत की बौद्ध विरासत ही थी।

वह सहोदरन ही थे, जिन्होंने जातिवादी दुष्टों के पुतले जलाने की परंपरा की शुरूआत की। यह काम 20वीं सदी के आरंभ में केरल में सांस्कृतिक पुनर्जागरण के दौर में किया गया। यह उत्तर भारत में होनेवाली रामलीला का ही उलट था, जिसमें

रावण का पुतला फूंका जाता है। हाल ही में घटी एक घटना को याद रखना होगा, जिसमें शिबू सोरेन ने ऐसे प्राचीन जननेता के खिलाफ प्रतीकात्मक हिंसा के इस आयोजन में भाग लेने से इनकार कर दिया था, जिसने राम से और उनके वर्णाश्रम धर्म से लड़ाई लड़ी थी। सोरेन आदिवासी समुदाय के एक जागरूक व्यक्ति हैं और वह रावण को एक बहादुर दलित-बहुजन पूर्वज के रूप में देखते हैं, जिन्होंने वर्णाश्रम धर्म का प्रतिरोध किया।

सहोदरन ने सन् 1934 के अपने काव्य-कर्म में 18 कविताओं को बौद्ध खंड के रूप में शामिल किया है (शेखर 2012:203)। जब मदन मोहन मालवीय हिंदू समूह के अपने अभियान के तहत कोट्टयम आए और वहां उन्होंने 'जय श्री राम' का घोष किया तो सहोदरन और उनके मित्रों ने पलट कर 'जय रावण' का नारा लगाया। सहोदरन और मितवादी ने सी वी कुंजीरामन के साथ मिलकर सन् 1920 और 1930 के दशक में नव बौद्ध आंदोलन का नेतृत्व किया। पंडित अयोथी दास द्वारा स्थापित और बाद में ईवी रामासामी नायकर द्वारा लोकप्रिय बनाए गए द्रविड़ आंदोलन में द्रविड़िस्तान की तुलना रावणस्तान (रावण का साम्राज्य) से की गई थी (पांडियन 2006)। फुले द्वारा भारत की बलिराजा की परिकल्पना भी यहां महत्त्वपूर्ण है।

बलि का मिथक महाराष्ट्र और केरल को तो जोड़ता ही है, वह समस्त कोंकण तट को भी जोड़ता है। महाबली को केरल में मवेली कहा जाता है। ओणम का संबंध वामन रूपी विष्णु और मवेली, दोनों से है। आज इसे फसलों के त्योहार के रूप में मनाया जाता है, जो मध्य और दक्षिणी केरल में मानसून के समापन और नए साल के आरंभ के अवसर पर मनाया जाता है। हालांकि ओणम मालाबार में मनाया जाता है, लेकिन एक अन्य त्योहार विशु भी नए साल का त्योहार है। यह जानना रोचक है कि ओणम को सिलोन में भी नए साल की शुरूआत का त्योहार माना जाता है। यह सांस्कृतिक करीबी और साझा अतीत को दिखाता है। ऐतिहासिक रूप से यह केरल में बौद्ध युग के समापन और हिंदू ब्राह्मणवादी जाति और कैलेंडर व्यवस्था या कहें वर्णाश्रम धर्म के नजरिए के सांस्थानीकरण का उदाहरण है।

ओणम अवनम या सावनम (श्रवणम या श्रमनम) का संक्षिप्त रूप है, जो बौद्ध शासक कनिष्क द्वारा स्थापित शक कैलेंडर का हिस्सा है। कनिष्क को दूसरे अशोक के रूप में भी जाना जाता है। तमिलाकम के संघम साहित्य में ऐसे संदर्भ हैं, जिनमें ओणम या सावनम के 8वीं या 10वीं सदी तक पूरे दक्षिण भारत में मनाए जाने की बात कही गई है। यही वह समय था, जब शैव और वैष्णव जैसे ब्राह्मणवादी संप्रदायों ने महायान मंदिरों पर कब्जा किया और जैन, आजीवकों, बौद्धों, नास्तिकों और वेदों, *पुरुष सूक्त* व वर्ण को चुनौती देने वाले निग्रंथों का उन्मूलन शुरू किया (गोपालकृष्णन 2008)। यह सब कुछ शैव कापालिकों के हत्या और बलात्कार तथा अन्य अकल्पनीय बर्बरताओं में निपुण दस्तों की मदद से किया गया। कुंभ मेलों

तथा अन्य स्थानों पर इनको आज भी देखा जा सकता है। पंडावादी पितृसत्ता ने भिक्षुणियों और पूजा स्थलों को हिंसा का शिकार बनाया। यह हिंसा आज भी जारी है। खासतौर पर ईसाई ननों और भिक्षुओं के प्रति। समूचे मध्य युग के दौरान ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ने क्रूर लैंगिक और यौनिक पंथों की मदद से ओणम को नष्ट किया और लोगों को नए कुलीन हिंदू धर्म की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। यौन कॉलोनियों की मदद से उन्होंने अपने प्रभाव क्षेत्र में इजाफा किया और कामलिप्त अर्थव्यवस्था तैयार की, जिसकी वैचारिकी और चेतना पिछड़ी हुई थी।

ओणम से जुड़े मिथक और प्रतीक केरल के बौद्ध अतीत की ओर इशारा करते हैं (पुरुषोत्तम, 2008)। बुद्ध ने संघ में आने वाले नए धर्मांतरित लोगों को जो नया पीला चोला दिया, वह भी ओनाकोडी या ओणम पर पहनी जाने वाली नए क्रीम रंग की मुंडू या धोती का प्रतीक था। धम्म चक्र अथवा नैतिकता का चक्र दरअसल गोल पुष्प कालीन का प्रतीक है। इस कालीन के बीच में पिरामिड की शैली में बना मिट्टी का ओनाटप्पन बौद्ध स्तूप का प्रतिनिधित्व करता है, जो बुद्ध की प्रमुख निशानी है।

बौद्धों के बाद के युग में इसे लंबे लिंग के समान आकार और शैव नाम दे दिया गया। कुछ स्थानों पर फूलों के प्रबंधन के लिए जो आठ चरण तय किए गए हैं, वे भी आठ चरणों वाले अष्टांग मार्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। साष्टांग प्रणाम भी मूल रूप से बौद्ध धर्म से लिया गया है। केरल की आम बोलचाल में अब भी कई शब्द ऐसे हैं, जो पाली भाषा से निकले हैं और बौद्ध दृष्टिकोण से प्रेरित हैं। केरल में तथा दक्षिण भारत के तमाम इलाकों में नामों तथा स्थानों के नाम में अक्सर पल्ली और चेरी प्रत्यय लगे होते हैं (पुरुषोत्तम, 2008:125)। ये भी पाली से निकले हैं और इनका अर्थ विहार अथवा भिक्षुओं का रिहाइशी क्षेत्र होता है। हिंदूकरण के बाद इसका अर्थ अवर्णों की रिहाइश हो गया। ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश में लामासरी (लामाओं या भिक्षुओं का निवास) शब्द शामिल है, जो पाली भाषा से निकला है। यह तिब्बती भाषा के रास्ते तांत्रिक बौद्ध परंपरा से होता हुआ अंग्रेजी तक पहुंचा और बरकरार है।

एक मलयालम लोक गीत में यह उल्लेख आता है कि मवेली एक न्यायपूर्ण शासक थे और उसके राज में कोई जातीय श्रेणीक्रम नहीं था। यह गीत स्पष्ट कहता है कि यह वर्णाश्रम से पूर्व का समाज था या कहें बौद्ध समाज था, जिसमें जाति और लिंग का श्रेणीक्रम नहीं था। सबाल्टर्न इतिहासकारों और न्यायप्रिय शोधकर्ताओं का यह मानना है कि यह गीत 16वीं सदी के दलित कवि और शमन (अलौकिक शक्ति वाले एक विशेष प्रकार के संत) ने रचा था, जिन्हें पाकनार नाम से जाना जाता था, जो एक पारया नायक थे। केवल पोयकल्यी अपच्चन एक अन्य पारया गायक, वक्ता, सुधारक थे, जिनका इतना अनोखा स्वर केरल में देखने को मिला।

(चेंतारसरी 1983)। मुल्लूर नामक एक अन्य प्रमुख अवर्ण कवि और नानुगुरु के शिष्य ने 20वीं सदी के आरंभ में दलितों पर *पुला वृतांगल* की रचना की और *धम्मपद* का पाली से मलयालम में अनुवाद किया। उन्होंने भी पाकनार को श्रद्धांजलि दी। 20वीं सदी में केरल के सुधारवादी कवि और सांस्कृतिक कार्यकर्ता सहोदरन अयप्पन ने भी पाकनार के गीत को अपनाया और उसे आधुनिक संदर्भों से जोड़ा। उन्होंने इस गीत को जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवाद की आलोचना में प्रयोग किया, क्योंकि इसने केरल में तथा व्यापक तौर पर भारत में समाज और राजनीति को नुकसान पहुंचाया था।

ओणापट्टु में सहोदरन दक्षिण भारत में ब्राह्मणवादियों की घुसपैठ और शासक मवेली को धोखा देने तथा परास्त करने का वर्णन करते हैं। उनका गीत ब्राह्मणवादी षड्यंत्र को स्पष्ट रूप से उजागर करता है, जिसके माध्यम से 8वीं से 12वीं सदी के बीच केरल को जाति और सामंती हिंदू व्यवस्था में धकेल दिया गया। वह विस्तार से बताते हैं कि कैसे इसकी वजह से सांस्कृतिक विनाश हुआ और नैतिक पतन हुआ। इसके चलते ही शुद्धता-अशुद्धता और अस्पृश्यता की सर्वाधिक घृणित और हिंसक व्यवस्था अस्तित्त्व में आई। सहोदरन का *ओणापट्टु* इस अपील के साथ समाप्त होता है कि वे ब्राह्मणवादी विचारों का परित्याग करें और महाबली के समतावादी शासन को अपनाएं।

लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि सार्वजनिक धन से संचालित मीडिया, अकादमिक जगत और सांस्कृतिक संस्थान जानबूझकर मनुवादी विचारधारा के अंधेरे को फैला रहे हैं, और ऐसी लोकतांत्रिक साहित्यिक अभिव्यक्तियों को खत्म कर रहे हैं, जिन्होंने केरल में पुनर्जागरण को संभव बनाया था। जनता के पैसे के इस्तेमाल से आक्रामक हिंदूकरण में किया जा रहा है। आकाशवाणी और राज्य के अन्य सरकारी संस्थान हिंसक ढंग से वर्णाश्रम धर्म का प्रचार कर रहे हैं और रामायण अभियान और गांधी मार्ग के जरिए ब्राह्मणवादी मूल्यों के संदेश प्रचारित-प्रसारित कर रहे हैं। कार्कीदकम यानी मानसून के महीने में उग्रवादी हिंदू गिरोह आक्रामक ढंग से 16वीं सदी की मलयालम रामायण, जिसे अध्यात्म रामायण भी कहा जाता है, का प्रयोग उस बौद्ध परंपरा को दबाने और उसकी याद को मिटाने के लिए करते हैं, जो केरल में तीसरी सदी ईसा पूर्व से लेकर 14वीं और 16वीं सदी ईस्वी तक मौजूद रही है। सच्चाई यह है कि हिंदी पट्टी की तरह केरल में भी *रामायण* 16वीं सदी के बाद पहुंची। यह बात प्रमाणित करती है कि उस वक्त तक वहां बड़े पैमाने पर बौद्ध संस्कृति फलफूल रही थी। एझुताछन के माध्यम से केरल में राम के प्रवेश के बाद भी केरल के कई हिस्से 17वीं सदी तक बौद्ध बने रहे। हिंदी में लिखित तुलसीदास की रामायण–*रामचरित मानस* को 17वीं सदी में तैयार किया गया। कंबर की *रामायण*, जिसे दक्षिण भारत की आरंभिक *रामायण* कहा जाता है, वह 13वीं सदी में तैयार की गई। ये

तमाम साहित्यिक ऐतिहासिक तथ्य स्पष्ट रूप से साबित करते हैं कि दक्षिण भारत का राम-करण या हिंदूकरण मध्य युग के अंतिम दौर में या आधुनिक युग के आरंभ में हुआ। जैसा कि सहोदरन का गीत ओणम हमें बताता है, केरल और समूचे भारत में मानवता को बचाने के लिए धर्म जैसे हिंसक और बर्बर स्वांग तथा मूर्तिपूजा आदि का समूल नाश करना होगा। देश में जाति और वर्ण व्यवस्था की स्थापना केवल तभी की जा सकती थी, जब भिक्षु-भिक्षुणियों, समतावादी शासकों और उनकी नैतिकताओं की हत्या की जाए। हमें इस बात का जरूर एहसास होना चाहिए कि इस हिंसा का ऐतिहासिक दायरा क्या रहा है। हमें मौजूदा हिंदू साम्राज्यवाद और उसके फासीवादी रूपों से संघर्ष करने के लिए इसके द्वारा अपने से असहमत लोगों को गैर और राक्षस ठहराने वाली बर्बर विचारधारा को भलीभांति समझना होगा। रामराज्य का एक आधुनिक संस्करण रूपाकार ले रहा है। हमें रावणराज या बालिराज के लिए काम करना होगा। आईए असुरों और अवर्णों को नए सिरे से जगाएं।

संदर्भ सूची –

- अलोयसियस, जी., *रिलीजन एज इमैनसिपैटरी आइडेंटिटी : अ बुद्धिस्ट मूवमेंट एमंग तमिल्स अंडर कॉलोनियलिज्म,* न्यू एज इंटरनेशनल, नई दिल्ली, 1998
- अलोयसियस, जी., *नेशनलिज्म विदाउट अ नेशन इन इंडिया,* ऑक्सफोर्ड यू पी, नई दिल्ली, 1997
- आंबेडकर, बी आर, *बुद्ध एंड हिज धम्म,* एससीपी, मुंबई, 1957
- आंबेडकर, बी आर, *एसेंशियल राइटिंग्स ऑफ बीआर आंबेडकर,* संपादक : वलेरियन रोड्रिग्वेज, ऑक्सफोर्ड यूपी, नई दिल्ली, 2004
- अप्पचन, पोयकायिल, *अननोन सब्जेक्ट्स : सांग्स ऑफ पोयकायिल अप्पचन,* अनुवाद : अजय शेखर, संपादक : वीवी स्वामी एंड ईवी अनिल, आईपीआरडीएस, कोट्टयम, 2008
- बालाकृष्णन, पीके, *जातिव्यवस्थितियम केरला चरित्रिवम,* एनबीएस, कोट्टयम, 1986
- *नारायण गुरु* (संपादित), केरल साहित्य अकादमी, त्रिचूर, 2000
- चेन, के., *बुद्धिज्म इन चाइना,* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1973
- चेंथारासरी, टीएचपी, *पोयकायिल श्री कुमार गुरुदेवन,* नवोधनम, त्रिवेंद्रम, 1983
- डेविडसन, रोनाल्ड एम, *इंडियन इसोटेरिक बुद्धिज्म : अ सोशल हिस्ट्री ऑफ द तांत्रिक मूवमेंट,* कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 2002
- गीता वी और एस वी राजादुरई, *टुवर्ड्स अ नॉन ब्राह्मण मिलेनियम : पंडित अयोथी थास टु पेरियार,* साम्या, कोलकाता, 2002
- गोपालकृष्णन, पीके, *केरलाथिनेट संस्कारिका चरित्रम,* केरल भाषा संस्थान, त्रिवेंद्रम, 2008
- गुरु, गोपाल, *ह्यूमिलिएशंस : क्लेम्स एंड कंटेक्स्ट्स,* ऑक्सफोर्ड यू पी, नई दिल्ली, 2008
- *रिटर्न टु व्हिच होम?,* फ्रंटलाइन, जनवरी 2015
- ग्राम्शी, एंटोनियो, *प्रिजन नोटबुक्स,* संपादन-अनुवाद : होर एंड स्मिथ, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1989
- आयलैया, कांचा, *बफेलो नेशनलिज्म : अ क्रिटिक ऑफ स्प्रिचुअल फासिज़्म,* साम्या, कोलकाता, 2004
- जेफ्री रॉबिन, *डिक्लाइन ऑफ नायर डॉमिनेंस - सोसाइटी एंड पॉलिटिक्स इन त्रावणकोर* (1847-

1908) मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 1976
- जमनादास, के, *देवदासी : राइज एंड फॉल ऑफ द बुद्धिस्ट नन,* मनोहर, नई दिल्ली, 2002
- कोचु, केके, *केरला चरिथ्रवम समूह रुपिकारनुवम* (केरल हिस्ट्री ऐंड सोशल फॉर्मेशन), केरल भाषा संस्थान, त्रिवेंद्रम, 2012
- कृष्णकुमार, सैफुदीन, *मुचिरि या मुजिरिज,* केरल लोकल हिस्टोरियंस, पेरिंगोट्टुकारा, 2013
- *महावंश,* एशियन ह्यूमैनिटीज प्रेस, कोलंबो, 2012
- मोहन, सनल, *मॉडर्निटी ऑफ स्लेवरी : स्ट्रगल्स अगेंस्ट कास्ट इनेक्वॅलिटी इन कॉलोनियल केरल*
- मोहंती, विमलेंदु, *ग्लिंप्सेस ऑफ बुद्धिस्ट लीगेसी,* महाबोधि सोसाइटी ऑफ इंडिया, कोलकाता, 2006
- मॉरिसन, टोनी, *बिलव्ड,* विंटेज, लंदन, 1997
- मॉरिसन, टोनी, *प्लेइंग इन द डार्क : व्हाइटनेस एंड लिटरेरी इमेजिनेशन,* विंटेज, न्यूयॉर्क, 1992
- निकम, एनए व रिचर्ड मैकियान, *ईडिक्ट्स ऑफ अशोका,* यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, 1959
- ऑम्वेट, गेल, *बुद्धिज्म इन इंडिया - चैलेंजिंग ब्राह्मनिज्म ऐंड कास्ट,* सेज, नई दिल्ली, 2005
- पनिकसेरी, वेलायुधन, *संचारिकल कंडा केरलम (केरल द ट्रैवेलर्स व्यू),* करंट, कोट्टयम, 2001
- पुरुषोत्तमन, पीआर, *बुद्धांते कल्पादुकल (फुटप्रिंट्स ऑफ बुद्ध),* करंट, त्रिचूर, 2008
- पांडियन, एमएसएस, *ब्राह्मण एंड नॉन ब्राह्मण : द जीनोलॉजीज़ ऑफ द तमिल पॉलिटिकल प्रजेंट,* पर्मानेंट ब्लैक, नई दिल्ली, 2006
- रघु, जे, (संपादक) *घर वापसी,* डीसीबी, कोट्टयम, 2015
- रॉय अरुंधती, *द गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स,* हार्पर कॉलिंग्स, नई दिल्ली, 1994
- शेखर, अजय, *सहोदरन अयप्पन : टुवर्ड्स अ डेमोक्रेटिक फ्यूचर,* अदर, कालीकट, 2012
- शेखर, अजय, *रिप्रजेंटिंग द मार्जिन : कास्ट ऐंड जेंडर इन इंडियन फिक्शन,* कल्पाज़/ज्ञान, दिल्ली, 2008
- शेखर, अजय, *ओल्डर दैन द चर्च : कास्ट एंड क्रिश्चियानिटी इन द गॉड ऑफ स्माल थिंग्स,* इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, दिसंबर, 2002
- शेखर, अजय, (भूमिका) *पीआरडीएस पट्टुकल,* केरल साहित्य अकादमी, त्रिचूर, 2011
- सिल्वरी, ओवी, *माटिलकम : चरिथ्रवम संस्कारुवम (माटिलकम : हिस्ट्री एंड कल्चर),* लैंटर्न बुक्स, त्रिचूर, 2012
- स्वामी, वीवी, ईवी अनिल और वीपी रवींद्रन, *प्रत्यक्ष रक्षा दैव सभा चरित्रथिल प्रत्यक्षपेट्टा विधम,* पीआरडीएस, कोट्टयम, 2009
- तीर्थर, धर्मा, *हिस्ट्री ऑफ हिंदू इंपीरियलिज्म,* दलित एजुकेशनल सेंटर, चेन्नई, 1992, www.archive.org पर भी ऑनलाइन उपलब्ध
- थापर, रोमिला, *अशोक ऐंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्याज,* ऑक्सफोर्ड यूपी, नई दिल्ली, 1998

(अंग्रेजी से अनुवाद : पूजा सिंह)

खण्ड 2

सांस्कृतिक युद्ध

एक सांस्कृतिक आंदोलन के चार साल

प्रमोद रंजन व रवि प्रकाश

दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में मुट्ठीभर अन्य पिछड़ा वर्ग और दलित छात्रों ने जब 25 अक्टूबर, 2011 को पहली बार 'महिषासुर शहादत दिवस' मनाया था, तब शायद किसी ने सोचा भी नहीं होगा कि यह दावानल की आग सिद्ध होगा। महज चार सालों में ही इन आयोजनों न नहीं सिर्फ देशव्यापी सामाजिक आलोड़न पैदा कर दिया है, बल्कि ये आदिवासियों, अन्य पिछड़ा वर्ग व दलितों के बीच सांस्कृतिक एकता का एक साझा आधार भी प्रदान कर रहे हैं। इस साल देशभर में 300 से ज्यादा स्थानों पर महिषासुर शहादत अथवा महिषासुर स्मरण दिवस मनाया गया। यह आयोजन देश की सीमा पारकर नेपाल भी पहुंच गया। इसे कहीं 10-15 उत्साही युवक सांकेतिक रूप से हाथ में तख्तियां लेकर कर रहे हैं, तो कहीं 20 हजार लोगों की भीड़ वाली सभाएं भी हो रही हैं। इन आयोजनों को देखते हुए यह आसानी से महसूस किया जा सकता है कि भारत की दमित अस्मिताएं इस बहाने अपना अभिनव सांस्कृतिक इतिहास लिख रही हैं।

भारत में जिस दुर्गा पूजा को देवताओं और राक्षसों की लड़ाई बताकर उसे निर्विवाद माना जाता था, वह आज इन आयोजनों के कारण संकट में है। महिषासुर दिवस मनाने वालों का कहना है कि वह तो आर्यों-अनार्यों की लड़ाई थी और महिषासुर हम अनार्यों के पुरखा और नायक हैं। आदिवासियों के मिथकीय नायक और देवता रहे महिषासुर को शहीद बतानेवाले लोगों में आज ज्यादा संख्या यादव, कुशवाहा, कुम्हार, कुर्मी, निषाद, मांझी, रजक, रविदास आदि वंचित बहुजन की है।

इन आयोजनों के एक अध्येता के रूप में देश के विभिन्न हिस्सों में महिषासुर दिवस के आयोजकों से बात करना हमारे लिए एक अनूठा अनुभव रहा। इनके पास कहने के लिए ढेर सारी बातें हैं, लेकिन कुछ साझा बातें अनायास ध्यान खींचती हैं। ये सभी आयोजक बताते हैं कि हम ''बचपन से इस विषय में सोचते थे कि दुर्गा की मूर्तियों में जो असुर है, उसका रंग-रूप क्यों हम लोगों जैसा है और क्यों उसे मारनेवालों की कद-काठी पहनावा आदि सब उनके जैसा है, जो आज के द्विज हैं!''

बाद में जब उन्होंने अपने स्तर पर विचार किया और खोजबीन की तो आश्चर्यचकित रह गए। उनके आसपास, यहां तक कि कई मामलों में तो अपने घरों में ही मनुज देवा, दैत्येरा, मैकासुर, कारसदेव आदि से संबंधित असुर परंपराएं पहले से ही मौजूद थीं। कुछ आयोजक मानते हैं कि महिषासुर व उनके गण कोई मिथकीय पात्र नहीं हैं, बल्कि ऐतिहासिक पात्र हैं, जो उनके कुनबे के रक्षक, प्रतापी राजा अथवा जननायक थे।

सभी आयोजक महिषासुर की 'पूजा' का विरोध करते हैं तथा इसमें सभी प्रकार के कर्मकांडों का निषेध करते हैं। शायद यही इन आयोजनों की असली ताकत भी है।

इन चार सालों में यह एक प्रकार की सांस्कृतिक राजनीति का आयोजन भी बन चुका है। यह न सिर्फ नामी-गिरामी विश्वविद्यालयों में हो रहा है, बल्कि दूर-दराज के गांव-कस्बों में भी इसकी चर्चा है। बात सरकारी अमले तक पहुंची है और कई जगहों पर इस उत्सव के दिन सुरक्षा के दृष्टिकोण से अतिरिक्त पुलिस बल की तैनाती की जाने लगी है।

महिषासुर का एक संबंध भारत की आदिम जनजाति 'असुर' की प्राचीन संस्कृति से जुड़ता है, जिनकी कुल संख्या अब देश भर में बमुश्किल 9 हजार बची है। असुरों में कम ही लोग पढ़े-लिखे हैं। गुमला के बिशुनपुर प्रखंड के सामाजिक कार्यकर्ता अनिल असुर कहते हैं, ''मैंने स्कूल की किताबों में पढ़ा है कि देवताओं ने असुरों का संहार किया था। वे हमारे प्रतापी पूर्वजों की सामूहिक हत्याएं थीं।'' रांची से प्रकाशित 'जोहार दिशुम खबर' के संपादक अश्विनी कुमार पंकज कहते हैं, ''महिषासुर को खलनायक बतानेवाले लोगों को आदिवासी, पिछड़ा वर्ग व अन्य वंचित तबकों के बीच उनके नायकत्व को समझना चाहिए।'' पंकज बताते हैं, ''इस साल (वर्ष 2015 में) देश भर में लगभग 350 जगहों पर महिषासुर दिवस मनाया गया।''

महिषासुर दिवस मनानेवाले लोग बताते हैं कि दुर्गा व उनके सहयोगी देवताओं द्वारा महिषासुर की हत्या कर दिए जाने के बाद आश्विन पूर्णिमा को उनके अनुयायियों ने विशाल जनसभा का आयोजन किया था, जिसमें उन्होंने अपनी समतामूलक संस्कृति को जीवित रखने तथा अपनी खोई संपदा को वापस हासिल करने का संकल्प लिया था। यही कारण है कि विभिन्न स्थानों पर जो आयोजन हो रहे हैं, उनमें से अधिकांश आश्विन पूर्णिमा वाले दिन ही होते हैं। यह पूर्णिमा दशहरा की दसवीं के ठीक पांच दिन बाद आती है, हालांकि कई जगहों पर यह आयोजन ठीक दुर्गा पूजा के दिन भी होता है तथा कहीं-कहीं आयोजक अपनी सुविधानुसार अन्य तारीखें भी तय कर लेते हैं। कहीं इसे 'महिषासुर शहादत दिवस' कहा जाता है तो कहीं 'महिषासुर स्मरण दिवस।'

आइए, बानगी के तौर पर कुछ चुनिंदा जगहों पर नजर डालते हुए हम इन आयोजनों का अंदाज समझने की कोशिश करें, हालांकि रिपोर्ट पूरी करने की समय सीमा के कारण हम इस सूची में क्षेत्रीय विविधता की जरूरत को पूरा नहीं कर पाए हैं, लेकिन यह एक बानगी तो है ही।

◆ पश्चिम बंगाल के पुरूलिया जिले के काशीपुर प्रखंड के भालागाड़ा में महिषासुर शहादत दिवस पर विशाल आयोजन होता है। इस वर्ष यहां इस आयोजन के लिए लगभग 20 हजार लोग जुड़े, जिनमें मुख्य रूप से संताल, बावरी, राजहड़, महाली आदि आदिवासी जातियों व पिछड़े-दलित तबकों के लोग थे। यहां यह आयोजन चरियन महतो के नेतृत्व में होता है। कुर्मी जाति से आनेवाले महतो यह आयोजन न सिर्फ यहां करते हैं, बल्कि उन्होंने कई अन्य स्थानों पर भी इस आयोजन के लिए आदिवासियों को प्रेरित किया है। वे बताते हैं कि कुर्मी व इस तरह की अन्य अन्न व पशुपालक जातियों की जड़ें आदिवासी समाज में ही रही हैं, यही कारण है कि हम महिषासुर से गहरा अपनत्व महसूस करते हैं। चरियन बताते हैं, ''हम लोगों ने पहली बार यह आयोजन वर्ष 2011 में दिल्ली के जेएनयू में महिषासुर दिवस मनाए जाने की खबर सुनने के बाद किया, लेकिन मेरे मन में यह बात बहुत पहले से थी। वर्ष 1997 में ही मैंने अपने बांग्ला साप्ताहिक 'नया सूरज' में इस संबंध में एक संपादकीय लेख लिखा था।'' वे बताते हैं कि उसका शीर्षक था, 'मानवता और राष्ट्रीयता विरोधी है दुर्गोत्सव।' इसमें उन्होंने लिखा था कि महिषासुर इस देश के मूल निवासी थे। दुर्गापूजा विदेशी आर्यों द्वारा उनकी हत्या के उपलक्ष्य में मनाई जाती है। इस प्रकार यह विदेशी आक्रांताओं का गुणगान करने का उत्सव है, जो अपने मूल रूप में हमारी राष्ट्रीयता के विरुद्ध है। वर्ष 2010 में उन्होंने अपने इसी विचार को और विस्तार से लिखा, जो पुरूलिया से प्रकाशित जाति संगठन 'कुर्मी मिलन संगम' के बांग्ला मुखपत्र 'अखड़ा' में प्रकाशित हुआ, जिसकी काफी चर्चा हुई। इसे पढ़कर उनके पास स्थानीय सामाजिक कार्यकर्ता अजित प्रसाद हेम्ब्रम और शत्रुघ्न मुर्मू आए। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि दुर्गापूजा का विरोध किया जाए, लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में यह संभव नहीं था। इन लोगों ने तय किया कि वे अपने पूर्वज महिषासुर की याद में कार्यक्रम आयोजित करेंगे। इस प्रकार उन्होंने अपना विरोध दर्ज करवाने के लिए दुर्गापूजा के दिन ही महिषासुर शहादत दिवस मनाना शुरू कर दिया। आयोजन के पहले साल भारत सरकार के ज्वाईंट रजिस्ट्रार जनरल स्वप्न विश्वास कार्यक्रम के मुख्य अतिथि बने थे, उसके बाद से बहुजन समाज से आने वाले अनेक बड़े अधिकारी, टेक्नोक्रेट व अन्य प्रभावशाली लोग इस आयोजन में मौजूद रहते हैं।

राज्य में विभिन्न जगहों पर हुए इन आयोजनों की सारी जानकारियां चरियन की जुबान पर रहती हैं। वे बताते हैं, ''वर्ष 2011 में हमारे आयोजन के बाद 2012 में

मालदह में भी यह आयोजन शुरू हुआ। 2013 में पश्चिम बंगाल में 24 जगहों पर महिषासुर दिवस मनाया गया। 2014 में सूबे में इन आयोजनों की संख्या 74 हो गई। यह बहुत तेजी से फैल रहा है। इस साल राज्य के 182 स्थानों पर महिषासुर दिवस मनाया गया है।''

◆ पश्चिम बंगाल के 24 परगना (नार्थ) जिला के अशोक नगर थाना क्षेत्र के बीराबांदोपल्ली में इस साल पहली बार महिषासुर दिवस का आयोजन किया गया। यहां आयोजन 20 अक्टूबर को हुआ। आयोजन में लगभग 400 लोग शामिल हुए। इसके आयोजकों में से एक सुरसेनजीत वैरागी बताते हैं कि इस क्षेत्र में दलित आबादी बहुसंख्यक है, जिन्होंने इस आयोजन में काफी उत्साह दिखाया। आयोजन में क्षेत्र के अन्य पिछड़ा वर्ग के लोग और मुसलमान भी शामिल हुए। उन्होंने बताया कि स्थानीय पुलिस ने उन्हें आयोजन नहीं करने के लिए एक नोटिस थमा दिया था, लेकिन वे झुके नहीं। उन्होंने पुलिस अधिकारियों के समक्ष सवाल उठाया कि 'किसी को जन्मदिन की पार्टी करने या प्रियजन की मृत्यु पर शोकसभा आयोजित करने के लिए आपसे अनुमति लेनी पड़ती है क्या?' हार कर पुलिस ने कार्यक्रम में विघ्न उत्पन्न नहीं किया। वैरागी कहते हैं कि यह न सिर्फ हमारे पूर्वजों की हत्या का उत्सव है, बल्कि दुर्गापूजा के दौरान जो मूर्तियां बनाई जाती हैं, उनमें मनुष्य की हत्या को दर्शाया जाता है, जिसका बहुत बुरा प्रभाव समाज पर पड़ता है। कोलकाता के सरदिंद बिस्वास के नेतृत्व में भी इस साल महिषासुर दिवस का आयोजन किया गया। वे बताते हैं कि इस साल 24-परगना : नॉर्थ तथा साउथ, मिदनापुर : ईस्ट तथा वेस्ट, बर्द्धमान, बाकुड़ा, बीरभूम, मुर्शिदाबाद, जलपाईगुड़ी, कूचविहार, मालदा समेत राज्य के 15 जिलों में दर्जनों जगहों पर शहादत दिवस का आयोजन किया गया है।

◆ कोलकाता के शहरी क्षेत्र व कई उपनगरों में भी कई जगहों पर महिषासुर शहादत दिवस का आयोजन पिछले दो सालों से हो रहा है। इन क्षेत्रों में इसका वाहक बना है समुद्र बिस्वास के संपादन में निकलनेवाला बांग्ला पाक्षिक 'निर्भीक संवाद'। समुद्र बताते हैं कि वे अपने अखबार में इन आयोजनों की तैयारी, इस दौरान होनेवाले संभाषण आदि की रिपोर्ट को निरंतर प्रकाशित करते हैं। आयोजन की अवधारणा के पक्ष में कई लेख भी इसमें छपे हैं, जिससे वंचित तबकों में इसके प्रति तेजी से जागरूकता आई है। समुद्र बिस्वास एक त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका 'जनमन' भी निकालते हैं तथा उन्होंने 'दुर्गा पूजा आंतरू' (दुर्गा पूजा की अंदरूनी कथा) शीर्षक से बांग्ला में एक किताब भी लिखी है, जिसमें दुर्गा और महिषासुर की कथा की बहुजन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस किताब का विमोचन वर्ष 2014 में कोलकता पुस्तक मेला में किया गया था। बिस्वास बताते हैं कि बंगाल के जलपाईगुड़ी जिले

के कालचीनी में 1985 से ही असुर दिवस मनाया जाता रहा है। वर्ष 2011 में दिल्ली में हुए आंदोलन के बाद से इसने ऐसा राज्य व्यापी स्वरूप ग्रहण कर लिया है कि इस बार आनंद बाजार पत्रिका जैसे दुर्गा पूजा के घनघोर समर्थक अखबार को भी इसके सामने झुकना पड़ा। उसने इस साल इस आयोजन के संबंध में सकारात्मक रिपोर्ट प्रकाशित की।

◆ उत्तर प्रदेश के देवरिया के निकट डुमरी में 'यादव शक्ति' पत्रिका के प्रधान संपादक चंद्रभूषण सिंह यादव व लखनऊ में इसी पत्रिका के संपादक राजवीर सिंह के निर्देशन में महिषासुर शहादत दिवस का आयोजन किया जाता है। चंद्रभूषण सिंह यादव कहते हैं कि महिषासुर यादव वंश के राजा थे। उन्होंने अपनी पत्रिका के अप्रैल, 2011 अंक में इस विषय पर लेख प्रकाशित किया था। 'यादव शक्ति' ने इस साल 26 अक्टूबर को यह दिवस मनाया, जिसमें वंचित समुदायों के बुद्धिजीवियों ने सांस्कृतिक आजादी की जरूरत पर बल देते हुए अपनी बातें रखीं। इन आयोजनों में शामिल होनेवाले लोग बताते हैं कि प्रदेश में कई अन्य जगहों पर भी पिछले दो सालों से यह आयोजन निरंतर हो रहा है।

◆ झारखंड के धनबाद जिले के निरसा प्रखंड के मुगमा में भी 2012 के बाद से हर साल महिषासुर को स्मरण किया जा रहा है। इस साल यहां एक नवंबर को महिषासुर दिवस मनाया गया। इस अवसर पर आयोजित संगोष्ठी में उत्तर प्रदेश के गाजीपुर से आए बहुजन समाज पार्टी के नेता डॉ. रामाशीष राम ने कहा, ''महिषासुर बहुजनों के महानायक थे। बहुजनों की एकजुटता जरूरी है ताकि हम अपने इतिहास का पुनर्पाठ कर सकें। मनुवादियों द्वारा लिखे गए इतिहास पर हमारा भरोसा नहीं है।'' संगोष्ठी में करीब 100 लोग शामिल हुए। इनमें ज्यादातर संख्या अन्य पिछड़ी जातियों के लोगों की थी।

◆ झारखंड के गिरिडीह जिले में भी अनेक जगहों पर महिषासुर दिवस मनाया जाने लगा है। जिले में इन आयोजनों को वरिष्ठ अधिवक्ता दामोदर गोप का नेतृत्व प्राप्त है। गोप बताते हैं कि वे वर्षों तक सीपीआई (एमएल) के सदस्य रहे, लेकिन उन्होंने महसूस किया कि 'उच्च जातियों के दबाव में कम्युनिस्ट पार्टियां बहुजन को सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से गुलाम बनाए रखना चाहती हैं।' वे सवाल उठाते हैं, ''क्या एक मनुष्य के रूप में सिर्फ रोटी, कपड़ा और मकान हमारे लिए काफी है? सांस्कृतिक गौरव के सारे सुख क्या सिर्फ उच्च जातियों के लिए हैं?'' गोप का मानना है, ''सांस्कृतिक और सामाजिक आजादी के बिना सिर्फ आर्थिक लड़ाइयों की बात करना एक छलावा मात्र है। आर्थिक रूप से भी वही समाज समृद्ध हो पाता

है तथा अपनी समृद्धि को लंबे समय तक बरकरार रख सकता है, जिसकी गहरी सामाजिक और सांस्कृतिक जड़ें हों।'' इसी जिला के धनवार प्रखंड में महिषासुर दिवस का आयोजन अरविंद पासवान करते हैं। धनवार में इस साल 24 अक्टूबर को इसका आयोजन किया गया। वे बताते हैं कि अगले साल से आश्विन पूर्णिमा को गिरीडीह और आसपास के जिलों में और बड़े पैमाने पर महिषासुर स्मरण दिवस मनाया जाएगा। झारखंड प्रदेश असुर संघ बनाकर राज्य स्तरीय असुर सम्मेलन करने की भी तैयारी चल रही है।

◆ बिहार के मुजफ्फरपुर के सिकंदरपुर कुंडल में इस साल 26 अक्टूबर (आश्विन पूर्णिमा) को महिषासुर दिवस मनाया गया। इस अवसर पर आयोजित संगोष्ठी में विभिन्न कॉलेजों के लगभग 100 छात्र मौजूद थे। यहां एकलव्य सेना के कार्यकर्ताओं ने इस आयोजन का संचालन किया, जिसके कर्ताधर्ता नरेश कुमार सहनी हैं। इस आयोजन से पहले एकलव्य सेना के कुछ कार्यकर्ताओं ने दशहरे के दिन जिलाधिकारी के आवास के सामने खुदीराम स्मारक पर 'काला दिवस' मनाकर दलित-पिछड़े लोगों से अपील की कि वे अपने पूर्वज की हत्या के जश्न में शामिल न हों।

नरेश कुमार सहनी बताते हैं, ''मैं बचपन से ही सोचता था कि अगर कथित देवताओं की वंशावलियां हैं तो जरूर असुरों की भी तो वंशावली होगी। आखिर उनके वंशज आज कौन हैं? बाद में फारवर्ड प्रेस में छपे लेख की जानकारी मुझे हुई तो लगा कि और भी लोग मेरी तरह ही सोच रहे हैं। उस लेख ने मुझे अपनी बात कहने की ताकत दी।'' वे बताते हैं, ''हम निषादों (मल्लाहों) की एक उपजाति है - महिषी। यह निषादों की वह उपजाति है, जो पशुपालन करती है। महिषासुर हम मल्लाहों के पूर्वज थे।'' साथ ही, वे स्वयं ही जोड़ते हैं, ''महिषासुर जिस काल में रहे होंगे, उस समय जाति व्यवस्था इस रूप में नहीं रही होगी, इसलिए उनकी जाति नहीं निर्धारित की जा सकती। यादव व अन्य जातियां भी उन्हें अपना पूर्वज मानती हैं। सभी अपनी जगह सही हैं।''

◆ मुजफ्फरपुर के भगवानपुर में भी महिषासुर महोत्सव मनाया गया। इसके संचालन का जिम्मा उठाया हीरा यादव ने। यह पूछने पर कि क्या विरोध का सामना नहीं करना पड़ता, वे बताते हैं, ''पहले विरोध होता था। 2011 में जब यह आयोजन शुरू हुआ तो घर के लोगों ने ही विरोध किया। उनका मानना था कि दुर्गा हिंदुओं की देवी हैं। उनके खिलाफ आयोजन क्यों? लेकिन अब लोग समझ चुके हैं कि वह कोई धर्मयुद्ध नहीं था। वह आर्यों-अनार्यों की लड़ाई थी। इसलिए, यह एक ऐतिहासिक घटना है। इसका हिंदू धर्म से कोई वास्ता या सरोकार नहीं। ब्राह्मण जाति सभी हिंदुओं का पर्याय नहीं है।''

◆ मुजफ्फरपुर जिले के ही मीनापुर प्रखंड के छितरा गांव में वर्ष 2014 में महिषासुर की मूर्ति बनाई गई थी, लेकिन इस वर्ष बिना मूर्ति के ही महिषासुर स्मरण दिवस मनाया गया। दरअसल, जैसे-जैसे इस संबंध में मूर्तिपूजा की विरोधी रही आदिवासी मूल की परंपराओं की जानकारी सामने आ रही है, लोग महिषासुर की मूर्ति बनाने को गलत मानने लगे हैं। इसकी जगह इन कार्यक्रमों में प्रायः अपने पूर्वज के रूप में महिषासुर का सिर्फ चित्र लगाया जाता है तथा संभाषण व सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया जाता है। छितरा गांव में हुए आयोजन में आसपास के गांवों के लगभग 1500 लोगों ने भाग लिया। आयोजन में बहुजन जातियों द्वारा पारंपरिक तौर पर गाए जाने वाले गीतों का गायन किया गया तथा जनपक्षधर सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए गए।

◆ बिहार के मधेपुरा निवासी, पेशे से शिक्षक हरेराम मूलतः एक सामाजिक कार्यकर्ता हैं। उनकी टीम के निर्देशन में एक स्कूल के मैदान में 26 अक्टूबर, 2015 को महिषासुर महोत्सव मनाया। इस आयोजन में करीब 150 लोग शामिल हुए। विचार गोष्ठी हुई, लेकिन किसी अखबार ने इस खबर को छापना मुनासिब नहीं समझा। हरेराम बताते हैं कि उन्होंने आयोजन की प्रेस विज्ञप्ति और तस्वीरें सभी अखबारों को दी थीं, लेकिन, न तो कोई पत्रकार इसे कवर करने आया और न कहीं यह खबर छप सकी। बकौल हरेराम भगत, बिहार विधानसभा के चुनाव की गहमागहमी के कारण उनके यहां ज्यादा भीड़ नहीं हो सकी। उन्हें करीब 1000 लोगों के आने की उम्मीद थी। वे कहते हैं, ''इस क्षेत्र में पहले बामसेफ के संस्थापक कांशीराम जी का आंदोलन चलता था। इस कारण महिषासुर महोत्सव के लिए लोगों को कनविंस करने में हमें कोई दिक्कत नहीं हुई।''

◆ बिहार के नवादा में भी 2012 से महिषासुर शहादत दिवस मनाया जा रहा है। वर्ष 2014 यहां भी महिषासुर की मूर्ति बनाई गई थी, तथा भारी जन जुटान हुआ था। कार्यक्रम के आयोजक रामफल पंडित, एडवोकेट जयराम प्रसाद, उमेश सिंह, सुमन सौरभ और रामस्वरूप मांझी बताते हैं कि इस क्षेत्र में इस आयोजन ने व्यापक सामाजिक आलोड़न पैदा किया है। लोग महसूस करने लगे हैं कि हमें आर्थिक और सामाजिक आजादी तभी मिल सकती है, जब हम अपने ऊपर लादी गई ब्राह्मणवादी संस्कृति के जुए को उतार फेंकें। उनका मानना है कि 'इन आयोजनों के कारण राजनीतिक जागृति भी आई है।'

◆ बिहार के गंगा पार शहर हाजीपुर से लगभग 16 किलोमीटर दूर भगवानपुर

अट्टा में एक नवंबर को महिषासुर के स्मरण के लिए एक विशाल जनसभा का आयोजन किया गया, जिसमें लगभग 1000 लोगों ने शिरकत की, जिसमें बड़ी संख्या महिलाओं की थी। आयोजक था- राष्ट्रीय मूलनिवासी संघ तथा सत्यशोधक विचार मंच। दो सत्रों में विभाजित यह आयोजन दिन के 12 बजे से रात के 2 बजे तक चला।

पहले सत्र का विषय था, 'महिषासुर कौन, हत्या क्यों, हत्या की जानकारी वंशजों को है या नहीं, और हत्या की जानकारी नहीं होने का परिणाम', दूसरे सत्र का विषय था, 'हमारे देश के शास्त्रों में आर्य-अनार्य, देव-दानव, सुर-असुर, सवर्ण-अवर्ण, आदि संघर्षों का विवरण है, तत्कालीन अनार्य, दानव, असुर, अवर्ण कौन थे तथा उनका संघर्ष तथा छल-कपट से उनकी पराजय के बाद उनके वंशजों की किस रूप में पहचान।' इन लंबे-चौड़े विषयों पर देश भर से आए सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं ने अपनी राय खूब विस्तार से रखी, जिसका स्वागत वहां मौजूद लोग तालियों की गड़गड़ाहट से करते रहे।

इस अवसर पर प्रमुख वक्ताओं के रूप में, यादव जाति से आनेवाले राष्ट्रीय सत्यशोधक मंच के संयोजक शिवाजी राय, भील आदिवासी समुदाय से आनेवाले राष्ट्रीय मूलनिवासी संघ के अध्यक्ष ताराराम मेहना तथा दलित समुदाय से आनेवाले बामसेफ के दिल्ली प्रदेश अध्यक्ष डॉ. देशराज ने आक्रोशपूर्वक अपनी बातें रखीं। कार्यक्रम को संबोधित करते हुए सामाजिक कार्यकर्ता नीलम कुशवाहा ने भी कहा कि मनुवादी व्यवस्था ने देवियों के रूप में महिलाओं का दुरुपयोग किया है, इसलिए इन देवियों को अपना आदर्श बनाया जाना गलत है। महिलाओं के सशक्तिकरण का अर्थ यह नहीं है कि उसे पुरुषों के तेज से उत्पन्न बताया जाए। उन्होंने कहा कि आज की महिलाओं को सच्चे सशक्तिकरण और अपमानजनक प्रलोभनों के बीच फर्क करना चाहिए तथा उन सामाजिक शक्तियों के साथ खड़ा होना चाहिए, जो न्याय की लड़ाई लड़ रही हैं। उदयन राय ने इस अवसर पर कहा कि संसद और अदालत के माध्यम से हमें अपने पूर्वजों की हत्याओं के विभिन्न जश्नों पर रोक लगाने के लिए कदम उठाने चाहिए। आयोजन को दिलीप पाल, महावीर दास सिसोदिया, राजनारायण गुप्ता, विनोद कुमार, कुमारी बेबी, कुमारी प्रार्थना, तनीषा, महेंद्र राय, हास्य कवि गया प्रसाद, सत्येंद्र पासवान, पारसनाथ रजक आदि ने भी संबोधित किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता स्थानीय नेता सुबोध राय ने की तथा संचालन जिवलेश्वर प्रसाद ने किया।

इसके अतिरिक्त, बिहार के पटना में अधिवक्ता मनीष रंजन, पत्रकार नवल किशोर कुमार, राकेश यादव, सुपौल में अभिनंदन कुमार, सीवान में रामनरेश राम, प्रदीप यादव, पूर्वी चंपारण में बिरेंद्र गुप्ता, पश्चिमी चंपारण में रघुनाथ महतो, शिवहर में चंद्रिका साहू, सीतमाढ़ी में रामश्रेष्ठ राय और गोपाल गंज के थावे मंदिर के महंत

राधाकृष्ण दास महिषासुर की गाथा को शहादत/स्मरण दिवस के माध्यम से जन-जन तक पहुंचा रहे हैं। इसी तरह उत्तर प्रदेश के कोशांबी के जुगवा में एनबी सिंह पटेल और अशोक बर्धन हर साल एक बड़ा आयोजन करते हैं। पिछले वर्ष इन लोगों ने अपने गांव का नाम बदलकर 'जुगवा महिषासुर' करने व वहां इस आशय का बोर्ड लगाने की घोषणा की थी। मिर्जापुर में कमल पटेल और सुरेंद्र यादव, इलाहाबाद में लड्डट सिंह व राममनोहर प्रजापति, बांदा में मोहित वर्मा, बनारस में कृष्ण पाल, अरविंद गौड़ और रिपुसूदन साहू इस आयोजन के कर्ताधर्ता हैं। कर्नाटक के मैसूर, तेलंगाना के हैदराबाद, मध्यप्रदेश के बालाघाट के मोरारी मोहल्ला और उड़ीसा के कई शहरों में भी महिषासुर दिवस मनाया जाने लगा है। बंगाल के पुरूलिया में स्वप्न कुमार घोष तथा ओडिशा के कालाहांडी में नारायण बागार्थी के नेतृत्व में हुए इस आयोजन ने पिछले साल मीडिया में खासी सुर्खियां बटोरी थीं। भारत के अतिरिक्त नेपाल में भी कुछ जगहों पर महिषासुर शहादत दिवस मनाए जाने की सूचनाएं हैं, लेकिन वहां के आयोजकों से हम समयाभाव के कारण संपर्क नहीं कर सके। [*साथ में, राजदेव यादव (धनबाद), अरुण कुमार (मुजफ्फरपुर) तथा आदेशुम लोहुक (कोलकाता)*]

(फारवर्ड प्रेस, दिसंबर, 2015)

बहुजन विमर्श के कारण निशाने पर आया जेएनयू

प्रमोद रंजन

[यह रिपोर्ट 9 फरवरी, 2016 को जेएनयू में लगे कथित देशविरोधी नारों के बाद के घटनाक्रमों के आलोक में लिखी गई थी। उस समय हिंदी-अंग्रेजी मीडिया के एक बड़े धड़े ने हिंदुत्ववादी संगठनों के सुर-में-सुर मिलाते हुए जेएनयू को 'राष्ट्रद्रोहियों का अड्डा' घोषित कर दिया था। उसके बाद 24 और 26 फरवरी, 2016 को तत्कालीन केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी ने भी संसद के दोनों सदनों में जेएनयू और महिषासुर शहादत दिवस के खिलाफ हमला बोला था। इस रिपोर्ट में तत्कालीन संदर्भों का उल्लेख है।]

यह प्रश्न सभी के जेहन में उठता होगा कि 1966 में भारत सरकार के एक विशेष एक्ट के तहत बना यह उच्च अध्ययन संस्थान (जेएनयू) वामपंथ का गढ़ कैसे बना? क्या यह कुछ लोगों के व्यक्तिगत प्रयासों का या मनोगत इच्छाओं का परिणाम था? या इसकी कोई ऐसी वस्तुगत संरचना रही है, जिसके चलते ऐसा हो पाया। जहां तक मनोगत इच्छाओं की बात है, वामपंथियों की इच्छा तो सभी विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को अपना गढ़ बनाने की रही होगी, लेकिन ऐसा नहीं हो पाया, फिर यह जेएनयू में ही क्यों संभव हुआ? इसका उत्तर इसकी विशेष आरक्षण प्रणाली में ही है। इस विश्वविद्यालय में आरंभ से ही पिछड़े जिलों से आने वाले उम्मीदवारों, महिलाओं तथा अन्य कमजोर तबकों को नामांकन में प्राथमिकता दी जाती रही है। कश्मीरी विस्थापितों और युद्ध में शहीद हुए सैनिकों के बच्चों और विधवाओं को भी वरीयता मिलती है। (देखें : जेएनयू की नामांकन नियमावली) यहां की प्रवेश परीक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्न भी इस प्रकार के होते हैं कि उम्मीदवार के लिए सिर्फ विषय का वस्तुनिष्ठ ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। जिसमें पर्याप्त विषयनिष्ठ ज्ञान, विश्लेषण क्षमता और तर्कशीलता हो, वही इस संस्थान में प्रवेश पा सकता है। विभिन्न विदेशी भाषाओं के स्नातक-स्तरीय कोर्स इसके अपवाद जरूर हैं, लेकिन

इन कोर्सों में आने वाले वे ही छात्र आगे चलकर एम.ए., एमफिल आदि में प्रवेश ले पाते हैं, जिनमें उपरोक्त क्षमता हो। इस प्रकार, वर्षों से जेएनयू आर्थिक व सामाजिक रूप से वंचित तबकों के सबसे जहीन, उर्वर मस्तिष्क के विद्यार्थियों का गढ़ रहा है। यहां के छात्रों की आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि और इससे पैदा हुई प्रश्नाकुलता, उन्हें वामपंथ के करीब ले आती है।

अरावली पर्वत श्रृंखला के हरे-भरे झुरमुटों में लगभग 1000 एकड़ में बसे इस पूर्ण आवासीय विश्वविद्यालय ने कभी भी अभिजात तबके को ज्यादा आकर्षित नहीं किया। हॉस्टलों का खान-पान साधारण है और मेस में पानी पीने के लिए गिलास की जगह जग का इस्तेमाल होता है। एक अनुमान के अनुसार जेएनयू में आने वाले कम-से-कम 70 फीसदी विद्यार्थी या तो गरीब तबके के होते हैं या फिर निम्न मध्यवर्ग के। विश्वविद्यालय की छात्र राजनीति की मुख्यधारा वामपंथी होने के बावजूद 2006 से पहले तक, यहां आर्थिक रूप से कमजोर लेकिन सामाजिक रूप से उच्च तबकों का दबदबा था क्योंकि यहां अधिक संख्या इसी तबके से आने वाले विद्यार्थियों की थी। दलितों और आदिवासियों की संख्या उनके लिए आरक्षित अनुपात 22.5 फीसदी तक ही सीमित रह जाती थी। हालांकि यहां वर्ष 1995 से ही ओबीसी विद्यार्थियों को भी नामांकन में वरीयता दी जाने लगी है, जिसका श्रेय ख्यात छात्रनेता चंद्रशेखर प्रसाद (1964-1997) द्वारा किये गये आंदोलनों को जाता है। (देखें, सामाजिक क्रांति के सूत्रधार, अशोक कुमार सिन्हा, शब्द प्रकाशन, पटना, 2012) लेकिन इसके बावजूद 2006 तक इस विश्वविद्यालय में सामाजिक रूप से वंचित तबकों की कुल संख्या 28-29 फीसदी से ज्यादा नहीं हो पाती थी। 2006 में उच्च शिक्षा में अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) के लिए आरक्षित हुई सीटों ने इस तबके को उच्च शिक्षा के प्रति उत्साहित किया। जेएनयू में सभी विद्यार्थियों को मिलने वाले वजीफे का भी आकर्षण इसके पीछे था। जैसा कि फारवर्ड प्रेस के अगस्त, 2015 अंक में प्रकाशित लेख 'दलित-बहुजन विमर्श का बढ़ता दबदबा' में अभय कुमार ने बताया था, ''विश्वविद्यालय की वार्षिक रपट (2013-14) के अनुसार, यहां के 7,677 विद्यार्थियों में से 3,638 दलित-बहुजन (1,058 अनुसूचित जाति, 632 अनुसूचित जनजाति, 1,948 ओबीसी) हैं।'' अगर हम सीधी भाषा में कहें तो आज विश्वविद्यालय के 50 प्रतिशत विद्यार्थी, गैर-उच्च जातियों के हैं। अगर इसमें 'सामान्य' कैटेगरी के तहत चुने जाने वाले एससी, एसटी व ओबीसी उम्मीदवारों तथा अन्य वंचित सामाजिक समूहों, अल्पसंख्यकों और महिलाओं को भी शामिल कर लिया जाए तो ऊंची जातियों व उच्च वर्ग से संबंधित विद्यार्थियों का प्रतिशत बहुत कम रह जाएगा। नतीजा यह है कि पिछले तीन सालों (2013-14 से) में जवाहरलाल नेहरू विवि छात्रसंघ के अध्यक्ष पद पर समाज के हाशिए पर पड़े वर्गों के विद्यार्थी चुने जाते रहे हैं– वी. लेनिन कुमार (2012), एसएफआई-जेएनयू, जो कि तमिलनाडु

के ओबीसी हैं; अकबर चौधरी (2013), आइसा, जो कि उत्तर प्रदेश निवासी एक मुस्लिम हैं और आशुतोष कुमार (2014) आइसा, जो बिहार के यादव हैं।'' ''2012 में तो जेएनयू छात्र संघ के चारों पद ओबीसी तबके से आने वाले उम्मीदवारों ने ही जीते थे।'' (देखें, 'जय जोति, जय भीम, जय जेएनयू', फारवर्ड प्रेस, अक्टूबर, 2012) वर्ष 2015 में छात्र संघ के चुनाव में विजयी रहे उम्मीदवारों की सामाजिक पृष्ठभूमि में भी यही बात परिलक्षित होती है। अध्यक्ष - कन्हैया कुमार, एआईएसएफ (उच्च हिंदू जाति भूमिहार), उपाध्यक्ष - शहला राशिद, आइसा (मुसलमान), जनरल सेक्रेट्री - रामा नागा, आइसा (दलित), ज्वाईंट सेक्रेट्री - सौरभ कुमार शर्मा, एबीवीपी (ओबीसी) हैं। गौरतलब है कि जेएनयू छात्र संघ के इस चुनाव में 14 साल बाद अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् (एबीवीपी) का कोई उम्मीदवार जीता है, इस जीत के पीछे स्पष्ट रूप से उसके उम्मीदवार की ओबीसी सामाजिक पृष्ठभूमि भी काम कर रही थी। इसी तरह, देशद्रोह के आरोप में गिरफ्तार वर्तमान छात्रसंघ अध्यक्ष कन्हैया कुमार (उच्च जाति हिंदू) के भाषणों के वीडियो आपने देखे होंगे। वे न सिर्फ एक प्रखर वक्ता हैं, बल्कि उनके भाषण फुले-आंबेडकरवाद और मार्क्सवाद के खूबसूरत संगम होते हैं। जेएनयू के विद्यार्थी बताते हैं कि उनकी जीत का श्रेय उनके इन्हीं भाषणों को है।

ध्यातव्य यह भी है कि 2015 में हुए नामांकनों के बाद जेएनयू में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और ओबीसी की संख्या लगभग 55 फीसदी हो गयी है। जेएनयू में अरबी, परसियन (फारसी) समेत विभिन्न भाषाई कोर्सों में बड़ी संख्या में मुसलमान विद्यार्थी हैं। अगर उनके साथ अन्य अल्पसंख्यकों की संख्या भी जोड़ दी जाए तो निश्चित ही आज जेएनयू में अद्विजों की संख्या कम-से-कम 70 फीसदी हो चुकी है।

गौर करने लायक तथ्य यह भी है कि 2006 से 2015 के बीच जेएनयू में सिर्फ ओबीसी विद्यार्थियों की संख्या 288 से बढ़कर 2434 हो गयी है। यानी पिछले 9 सालों में विवि में ओबीसी छात्रों की संख्या लगभग 10 गुणा बढ़ी है। महिलाओं की संख्या भी काफी बढ़ी है (आगे देखें चार्ट)

नये नारे, नयी इबारत, नए विमर्श

जेएनयू के विद्यार्थियों की सामाजिक संरचना में आए इस बदलाव ने सिर्फ छात्र संघ को ही नहीं बदला बल्कि यहां होने वाले विमर्श भी बदल गये। प्रमुख छात्र संगठनों पर वामदलों का आवरण तो चढ़ा रहा, लेकिन उनके नारे बदलने लगे। दीवारों पर लगे चित्र और इबारतें बदलने लगीं। मार्क्स, लेनिन और माओ की जगह छात्र संगठनों के नारे बिरसा, फुले और आंबेडकर के नाम पर बनने लगे। दीवारों पर मनुवाद और जातिवाद का विरोध करने वाले बहुजन नायकों की तस्वीरें लगायी

विद्यार्थियों की सामाजिक पृष्ठभूमि

2005-2006	2006-2007	2013-2014	2014-2015
कुल विद्यार्थी : 5264 **लिंगानुपात** महिलाएं : 1862 पुरुष : 3402 **सामाजिक पृष्ठभूमि** अजा : 669 अजजा : 370 ओबीसी : आंकड़े एकत्रित नहीं विकलांग : 104 विदेशी नागरिक : 241 अन्य : 3880	कुल विद्यार्थी : 5506 **लिंगानुपात** महिलाएं : 1878 पुरुष : 3628 **सामाजिक पृष्ठभूमि** अजा : 703 अजजा : 425 ओबीसी : 288 विकलांग : 116 विदेशी नागरिक : 248 अन्य : 3726	कुल विद्यार्थी : 7677 **लिंगानुपात** महिलाएं : 3623 पुरुष : 4054 **सामाजिक पृष्ठभूमि** अजा : 1058 अजजा : 632 ओबीसी : 1948 विकलांग : 179 विदेशी नागरिक : 297 अन्य : 3563	कुल विद्यार्थी : 8308 **लिंगानुपात** महिलाएं : 4111 पुरुष : 4197 **सामाजिक पृष्ठभूमि** अजा : 1201 अजजा : 643 ओबीसी : 2434 विकलांग : 219 विदेशी नागरिक : 331 अन्य : 3480
2005-06 में 1426 छात्र-छात्राओं का भर्ती के लिए चयन किया गया। जहां तक विद्यार्थियों की शहरी-ग्रामीण पृष्ठभूमि का प्रश्न है, यह अनुपात 524 : 902 था। साथ ही केवल 417 विद्यार्थी पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए थे, जबकि 1009 विद्यार्थियों की स्कूली शिक्षा नगरपालिका अथवा अन्य गैर-पब्लिक स्कूलों में हुई थी।	सन् 2006-07 में ओबीसी के कुल नामांकित 1484 विद्यार्थियों में से 288 ओबीसी से थे। (अर्थात 19.44 प्रतिशत ओबीसी छात्र-छात्राओं का विभिन्न पाठ्यक्रमों में भर्ती हेतु चयन हुआ)	ओबीसी के 27 प्रतिशत आरक्षण के बरक्स 24.90 प्रतिशत ओबीसी विद्यार्थियों ने विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। इनके अतिरिक्त, आरक्षित श्रेणियों के कुछ विद्यार्थियों ने मेरिट के आधार पर सामान्य उम्मीदवार की तरह प्रवेश लिया उनकी संख्या निम्नानुसार है : अजा : 37, अजजा : 35, विकलांग : 07, ओबीसी : 177	ओबीसी वर्ग के 27 प्रतिशत आरक्षण के विद्यार्थियों 26.33 प्रतिशत ओबीसी छात्र-छात्राओं ने विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। इनके अतिरिक्त, आरक्षित श्रेणियों के कुछ विद्यार्थियों ने मेरिट के आधार पर सामान्य उम्मीदवार की तरह प्रवेश लिया उनकी संख्या निम्नानुसार है : अजा : 44, अजजा : 26, विकालंग : 07, ओबीसी : 186

स्रोत : जेएनयू प्रशासन द्वारा प्रस्तुत 36वां, 37वां, 44वां और 45वां वार्षिक प्रतिवेदन

जाने लगीं। नये सामाजिक समीकरण को देखते हुए इन प्रतीकों के बिना कोई भी संगठन जेएनयू परिसर में अपना अस्तित्त्व नहीं बनाए रख सकता था। सिर्फ नारे और चित्र ही नहीं बदले, शोध के लिए चुने जाने वाले विषयों में भी भारी बदलाव आया। वंचित तबकों से आने वाले विद्यार्थी, अब तक अकादमिक क्षेत्र के लिए अछूते रहे जीवनानुभवों तथा विचार प्रणाली के साथ आए थे। उन्होंने मानविकी विषयों के ठस पड़े अकादमिक क्षेत्र को अपनी एक नयी ऊर्जा से आलोकित करना शुरू कर दिया। यही 'वाम' की वह नई दिशा थी, जो उसे उसके अब तक के उच्चवर्णीय रुचि के विमर्शों से अलग करती थी। अन्यथा, जेएनयू में तो रेडिकल वाम की भी उपस्थिति हमेशा रही है। नक्सलवाद, माओवाद अथवा कश्मीर की आजादी से जुड़े विमर्श वहां के लिए कोई नयी बात नहीं हैं। इन मुद्दों पर वहां हुए अब तक हुए छोटे-बड़े कार्यक्रमों की संख्या निश्चित ही हजारों में रही है।

महिषासुर आंदोलन और 'खाने की आजादी' (फूड फ्रीडम) से संबंधित आंदोलन उपरोक्त नये विमर्शों की सुगबुगाहट का सार्वजनिक प्रस्फुटन थे, जिसने सारे देश का ध्यान खींचा। आधिकारिक वाम संगठनों ने इन आंदोलनों को थोड़ी ना-नुकूर के बाद या तो स्वीकार कर लिया या कम-से-कम इतना तो घोषित ही कर दिया कि वे अभिव्यक्ति की आजादी के पक्ष में खड़े रहेंगे तथा वंचित तबकों से आने वाली इन आवाजों का विरोध नहीं करेंगे। प्रकारांतर से यह वाम और बहुजन विचाधाराओं का साथ आना था या कम-से-कम एक कॉमन मिनिमम प्रोग्राम तक पहुंचना तो था ही।

बचाव की मुद्रा में संघ

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ स्वयं को एक सांस्कृतिक संगठन कहता है और ब्राह्मणवादी संस्कृति के संरक्षण के लिए निरंतर सक्रिय रहता है। बहुजन बौद्धिक इस ब्राह्मणवादी संस्कृति पर निरंतर प्रहार करते रहे हैं, जिसे जेएनयू में वाम का भी समर्थन हासिल होने लगा। फुले, आम्बेडकर, पेरियार और नारायण गुरू की विचार प्रणाली का मार्क्स, लेनिन और माओ के विचारों के साथ संगम की प्रक्रिया में जो तर्क, तथ्य और जनभावना जेएनयू पैदा कर रहा था, उसका कोई उत्तर संघ के पास नहीं था। जिस ब्राह्मणवादी संस्कृति को वे हिंदू धर्म की आड़ में छिपाए रखना चाहते थे, उसे हिंदू धर्म के ही वंचित तबकों से कम-से-कम आजाद भारत में इतनी बड़ी चुनौती पहली बार मिल रही थी, और इसके पीछे था जेएनयू में पढ़ रहे बहुजन शोधार्थियों का बौद्धिक बल। वे अब उच्च अकादमिक मानदंडों के अनुरूप भी अपनी बात रखने में सक्षम थे। संघ की अब तक की कार्रवाइयां ईश निंदा, गौ हत्या आदि के विरोध पर चलती रही हैं। वे मध्यकालीन यूरोप या कहें आज के कुछ अरब देशों की तर्ज पर ईश निंदा आदि को पाप ठहराते और कथित नास्तिकों/धर्म-विरोधियों

के विरुद्ध मोर्चा खोल देते थे। इसमें उन्हें व्यापक समाज का समर्थन भी हासिल हो जाता था। लेकिन इस बार यह बाजी नहीं चल सकी। जिस हिंदू धर्म के नाम पर वे ब्राह्मणवाद चलाये रखना चाहते थे, उसी के भीतर से यह आवाजें आने लगी थीं कि हम आदिवासियों, पिछड़ों, दलितों की संहारक देवी की अराधना से इंकार करते हैं। जेएनयू में महिषासुर आंदोलन के प्रस्तावक कह रहे थे–

''तुमने हमारे नायकों को अपने ग्रंथों में भले ही खलनायक के रूप में पेश किया है, हम ब्राह्मणेत्तर स्रोतों से अपने नायकों को ढूंढेंगे तथा उन्हें पुनर्स्थापित करेंगे। संथाल, भील, गोंड आदि जनजातियों के अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा आदिम जनजाति के रूप में मान्यता प्राप्त झारखंड की असुर जनजाति हजारों वर्षों से खुद को महिषासुर का वंशज मानती रही है तथा उनकी पूजा करती रही है। अन्य दलित-बहुजन जातियों में भी असुर परंपरा से जुड़े अनेक टोटेम रहे हैं। ऐसे में महिषासुर की हत्या का उत्सव मनाया जाना कतई उचित नहीं है। उन्होंने यह तथ्य भी सामने रखा कि स्त्रीशक्ति की मान्यता इस देश में हजारों वर्षों से रही है, जो मूलतः आदिवासी-बहुजन परंपरा का ही हिस्सा थी। लेकिन ब्राह्मणवादी प्रभाव ने उस स्त्रीशक्ति के रूप को विकृत कर, उसे हिंसक और स्त्री-विरोधी रूप दे दिया। आज जिस तासीर की दुर्गापूजा मनायी जाती है, उसकी शुरूआत महज 260 साल पहले 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद लार्ड क्लाइव के सम्मान में कोलकाता में जमींदार नवाब कृष्णदेब ने की थी। इस प्रकार यह त्योहार न सिर्फ बहुत नया है बल्कि इसके उत्स में मुसलमानों का विरोध और साम्राज्यवाद-परस्ती भी छुपी हुई है।'' *(महिषासुर-दिवस आयोजन में दिए गए भाषणों का समाहार)*

यानी जिस दुर्गापूजा के आधार पर संघ के लोग इस देश के मूलनिवासियों व वंचित तबकों को दुष्कर्मी और राक्षस आदि बताते हैं, उसका अर्थ ही इन युवा बौद्धिकों ने बदल दिया। इसी तरह वे जिस बीफ और पोर्क के नाम पर देश में सांप्रदायिक सौहार्द बिगाड़ने का खेल खेलते रहे थे, जेएनयू के हिंदू-मुसलमान विद्यार्थियों ने उसे 'खाने की आजादी' का मसला बना डाला। बीफ और पोर्क फेस्टिवल के संबंध में उनके अकाट्य तर्क मीडिया के सहारे दूर तक पहुंचने लगे। उन्होंने जमीनी हकीकत से दूर रहने वाले भारतीय मध्यवर्गीय हिंदुओं और मुसलमानों को बताना शुरू किया, ''बीफ और पोर्क हिंदू दलितों के भोजन का न सिर्फ अविभाज्य अंग रहा है बल्कि गरीब लोगों के लिए सस्ते प्रोटीन का यह सबसे बड़ा स्रोत है। लगभग पूरा पूर्वोत्तर भारत इन दोनों खाद्यों का उपभोग करता रहा है। जेएनयू में चूंकि देश भर के विद्यार्थी पढ़ते हैं, इसलिए उन पर भोजन की आदतों को छिपाये रखने का मनोवैज्ञानिक दबाव बनाये रखना गलत है।'' बहरहाल, संघ ने इस बार 'ईश निंदा' के स्थान पर कथित 'राष्ट्र निंदा' के आधार पर हमला किया। उन्होंने ईश्वर के स्थान पर राष्ट्र को स्थापित किया, जिसके बारे में कोई भी सवाल करना, तर्क

करना पाप है और पापी को प्रताड़ित करना पुण्य।

जेएनयू में बहुजन आन्दोलन

अगर हम जेएनयू में पिछले महीने घटे घटनाक्रम को उसकी पृष्ठभूमि समेत कड़ी-दर-कड़ी देखें तो पाएंगे कि 'बहुजन और वाम' के बीच बनती उपरोक्त एकता को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने खतरे के घंटी के रूप में लिया। इसकी पृष्ठभूमि को संपूर्णता में समझने के लिए हमें अक्टूबर, 2011 में जेएनयू में 'ऑल इंडिया बैकवर्ड स्टूडेंट फोरम' द्वारा पहली बार आयोजित हुए 'महिषासुर शहादत दिवस' तथा 'द न्यू मैटिअरलिस्ट' की ओर से सितंबर, 2012 में प्रस्तावित 'फूड फ्रीडम' आंदोलन की ओर लौटना होगा। इन दोनों आयोजनों को करने वाले अलग-अलग संगठनों के नामों पर ध्यान दें। महिषासुर दिवस मनाने वाला संगठन 'ऑल इंडिया बैकवर्ड स्टूडेंट्स फोरम' घोषित रूप से ओबीसी विद्यार्थियों का संगठन था। 'फूड फ्रीडम' को मुद्दा बनाने वाले संगठन 'द न्यू मैटिअरलिस्ट' का नाम भी बहुजन की विस्मृत दार्शनिक परंपरा 'लोकायत' से संबद्ध है। 'द न्यू मैटिअरलिस्ट' के अगुआ वैज्ञानिक भौतिकवाद में रुचि रखने वाले ओबीसी और दलित छात्र ही थे।

'खाने की आजादी' वाले आंदोलन, जिसे कुछ लोगों ने 'बीफ-पोर्क फेस्टिवल' का नाम दिया था और जिस पर दिल्ली हाईकोर्ट ने रोक लगा दी थी। इसके खिलाफ न्यायालय में 'राष्ट्रीय गौरक्षिणी सेना' ने याचिका दायर की थी तथा 'विश्व हिंदू परिषद व संघ परिवार के अन्य प्रतिनिधियों' ने जेएनयू के तत्कालीन कुलपति से मुलाकात कर आयोजकों पर कड़ी कार्रवाई की मांग की थी। इस प्रतिनिधिमंडल से मुलाकात के बाद कुलपति ने 'द न्यू मैटिअरलिस्ट' के ओबीसी समुदाय से आने वाले छात्र नेता को निलंबित कर दिया था तथा तीन अन्य को कारण बताओ नोटिस जारी किया था। (देखें, 'हिन्दुत्ववादियों से भयभीत हुआ जेएनयू', फारवर्ड प्रेस, अक्टूबर, 2012)

इस आयोजन के तहत विवि परिसर के एक मैदान में विभिन्न प्रदेशों के खाद्य पदार्थों के साथ इच्छुक छात्रों को बीफ और पोर्क परोसा जाना था। इससे पहले इस तरह का आयोजन हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय में हो चुका था तथा दोनों ही जगहों पर इसे बहुजन विद्यार्थियों के प्रिय प्रोफेसर कांचा आयलैया का वैचारिक वरदहस्त प्राप्त था।

महिषासुर और फूड फ्रीडम आंदोलन के बाद वर्ष 2011 और 2012 में विभिन्न समाचार पत्रों, पत्रिकाओं में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विभिन्न अनुषांगिक संगठनों के जो बयान और प्रतिक्रियाएं आईं, उन्हें पढ़ने पर यह महसूस होता है कि वे आरंभ में समझ ही नहीं पा रहे थे कि यह हो क्या रहा है।

'खाने की आजादी' की मांग करने वाले प्रस्तावित आयोजन ने तो दिल्ली हाईकोर्ट

के आदेश के बाद वहीं दम तोड़ दिया लेकिन महिषासुर दिवस का आयोजन 2011 के बाद से हर साल न सिर्फ जेएनयू में होता रहा, बल्कि देश के अन्य हिस्सों में भी यह बहुत तेजी से फैला। वर्ष 2013 में इसका आयोजन विभिन्न विश्वविद्यालयों समेत लगभग 100 शहरों-कस्बों में हुआ। इनकी संख्या 2015 में बढ़कर 350 से भी अधिक हो गयी। इसी बीच मई, 2014 में केंद्र में संघ परिवार के राजनीतिक संगठन भारतीय जनता पार्टी की सरकार आ गई। संघ ने महिषासुर आंदोलन के उत्स के तौर पर फारवर्ड प्रेस पत्रिका को चिन्हित किया तथा इसके खिलाफ मोर्चा खोल दिया। अक्टूबर, 2014 में कुछ हिंदूवादी संगठनों से जुड़े लोगों ने फारवर्ड प्रेस पर इस प्रकरण को लेकर पुलिस में मुकदमा दर्ज करवाया। विभिन्न समाचार पत्रों ने इस संबंध में अपनी रिपोर्ट में पुलिस सूत्रों के हवाले से बताया था कि इस मामले को लेकर पत्रिका के कार्यालय पर छापा केंद्रीय गृह मंत्रालय के निर्देश पर मारा गया था। इस दौरान जहां 'द हिंदू', 'इंडियन एक्सप्रेस', 'डेक्कन हेराल्ड', 'जनसत्ता' आदि ने फारवर्ड प्रेस के पक्ष को भी सामने रखा वहीं 'पांचजन्य', 'आर्गेनाइजर' के अतिरिक्त 'पायनियर', 'दैनिक जागरण' आदि दक्षिणपंथी पत्र हमारे बारे में निरंतर दुष्प्रचार में संलग्न रहे।

2015 में पांचजन्य

बहुजन विमर्शों के इस उभार पर संघ की ओर से वास्तविक हमले की शुरूआत उसके बाद शुरू हुई। संघ के हिंदी मुखपत्र 'पांचजन्य' ने 8 नवंबर, 2015 के अंक में आवरण कथा के रूप में एक सनसनीखेज व उत्तेजक रिपोर्ट छापी, जिसका शीर्षक था 'जेएनयू : दरार का गढ़'। उन्होंने सिर्फ यह रिपोर्ट छापी ही नहीं बल्कि समाचार माध्यमों को इसके बारे में विशेष तौर पर सूचित भी किया कि वे इसका संज्ञान लें। नवंबर, 2015 के पहले सप्ताह में विभिन्न समाचार चैनलों पर 'पांचजन्य' की यह रिपोर्ट सुर्खियों में बनी रही। इसी रिपोर्ट से पहली बार यह स्पष्ट हुआ कि जेएनयू में बढ़ रही वाम-बहुजन एकता ही संघ के असली निशाने पर है। आगे हम पांचजन्य की उपरोक्त रिपोर्ट के कथ्यों को देखेंगे तथा उनसे पुलिस के गुप्तचर विभाग की उस रिपोर्ट का मिलान करेंगे, जो फरवरी, 2016 में जेएनयू में कथित देशविरोधी नारे लगाये जाने के बाद गृह मंत्रालय को भेजी गयी है। इससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि किस प्रकार संघ और पुलिस एक ही भाषा बोल रहे थे तथा किस प्रकार संघ के एजेंडे पर जेएनयू का कथित 'देशद्रोह' इसलिए आया ताकि इस बहाने 'बहुजन विमर्शों' को कुचल डाला जाए।

पांचजन्य और सरकारी गुप्तचर

जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया कि जेएनयू की हालिया घटना सिर्फ कथित

'देशद्रोही' नारों के कारण नहीं घटित हुई है। उनका असली उद्देश्य मुसलमानों पर हमले के साथ-साथ ब्राह्मणवादी संस्कृति का प्रतिकार करने वाले हिंदू बहुजन को बदनाम करना है।

आइए, पहले देखें कि पांचजन्य ने अपने 8 नवंबर, 2015 के अंक की आवरण कथा 'जेएनयू : दरार का गढ़' में क्या कहा था।

पांचजन्य लिखता है, ''जेएनयू एकमात्र ऐसा संस्थान है, जहां राष्ट्रवाद की बात करना गुनाह करने जैसा है। इसे वामपंथियों का गढ़ कहा जाता है, भारतीय संस्कृति को तोड़-मरोड़ कर गलत तथ्यों के साथ प्रस्तुत करना यहां आम बात है। उदाहरण के तौर पर जब पूरे देश में मां दुर्गा की पूजा होती है तो यहां कथित नव वामपंथी छात्र और प्रोफेसर महिषासुर दिवस मनाते हैं। आतंकवाद प्रभावित कश्मीर से सेना को हटाने की मांग करते हैं। महिषासुर दिवस मनाने वाले अपने आप को पिछड़ों, वंचित एवं वनवासियों का प्रतिनिधि बताते हैं तथा महिषासुर को पिछड़े, वंचित एवं वनवासियों के नायक-भगवान के रूप में प्रदर्शित करते हैं।''

जेएनयू के बदलते स्वरूप को चिन्हित करते हुए पांचजन्य लिखता है कि ''कुछ समय पूर्व वामपंथियों की देश व समाज तोड़ने की नीति कुछ और होती थी लेकिन समय के साथ इसमें बदलाव आया है। आज इन्होंने अपने चेहरे व अपनी वैचारिक लड़ाई के क्षेत्र बदल लिए हैं। अब वे लेनिन की प्रस्थापनाएं नहीं दोहराते बल्कि उनके स्थान पर वे सेकुलरवाद, अल्पसंख्यक अधिकार, मानवाधिकार, महिला अधिकार व समाज के वंचित तबके के अधिकारों का सहारा लेकर अपने कार्यों को बड़ी ही आसानी के साथ अंजाम देते हैं। इस जहर की लहलहाती फसल को विश्वविद्यालय के प्रत्येक स्थान पर देखा जा सकता है। जेएनयू परिसर दीवारों पर लिखे नारों, पंफलेट और पोस्टरों से पटा रहता है। इनमें से अधिकतर नारे व पोस्टर भारतीय संस्कृति, सभ्यता व समाज व देश को विखंडित करने वाले होते हैं।'' पांचजन्य इस रिपोर्ट में नारों, पोस्टरों में आए इन बदलावों का दोष 'फारवर्ड प्रेस' द्वारा चलाये गये विमर्शों पर मढ़ता है तथा एक उपशीर्षक 'फारवर्ड प्रेस का विवि कनेक्शन' के तहत इसकी भर्त्सना करता है। पांचजन्य को 'बहुजन' अवधारणा से चिढ़ है। वह लिखता है, ''वे वंचित व वनवासी लोगों को मिलाकर एक नयी संज्ञा दे रहे हैं– बहुजन। कुछ वर्ष पहले जेएनयू में एक कार्यक्रम आयोजित किया गया था, जिसमें वक्ता के रूप में उस्मानिया विश्वविद्यालय में सहायक प्रो. रहे, कांचा आयलैया व जेएनयू के प्रोफेसर ए.के. रामकृष्णन, एस.एन. मालाकार ने अपने भाषणों में उच्च वर्ग के हिन्दुओं के खिलाफ जमकर जहर उगला।'' दरअसल, संघ के मुखपत्र पांचजन्य, आर्गेनाइजर के अतिरिक्त पायनियर, दैनिक जागरण जैसे पत्रों तथा नीति सेंट्रल, सेंट्रल राइट इंडिया, इंडिया फैक्ट्स जैसी दक्षिणपंथी रूझान वाली वेबसाइटों को भी 'बहुजन' अवधारणा से खासी परेशानी रही है। इनमें प्रकाशित

लेखों में इस अवधारणा का इस आधार पर विरोध किया जाता रहा है कि 'संविधान सम्मत अवधारणा अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ा वर्ग' है। उनके अनुसार इन सभी तबकों तथा जाति प्रथा का विरोध करने वाले द्विजों को साथ लेकर चलने वाली 'बहुजन' की अवधारणा हिंदुओं के खिलाफ एक विदेशी षड्यंत्र है। जेएनयू में वामपंथ की धारा जिस ओर जा रही थी, उसका झुकाव दूसरे शब्दों में कहें तो इसी 'बहुजन' अवधारणा की ओर था।

पांचजन्य अपनी कवर स्टोरी में जेएनयू को इसी कारण 'देश को तोड़ने वाला', 'हिन्दू समाज के अभिन्न अंग वर्णव्यवस्था के बारे में भ्रामक बातें बोलकर भोले-भाले हिंदू नवयुवकों को बरगलाने' वाला तथा 'सवर्णों के खिलाफ जहर उगलने वाला' बताता है तथा प्रकारांतर से सवर्ण समाज और अपनी सरकार को इसके खिलाफ मुहिम चलाने के लिए कहता है। यह अकारण नहीं है कि इस आवरण कथा (पांचजन्य की) का एक हिस्सा जेएनयू के पूर्व छात्र रवींद्र कुमार बसेड़ा के नाम से छापा गया है। बसेड़ा उन लोगों में से हैं, जिन्होंने 2014 में महिषासुर दिवस के खिलाफ मुकदमा दर्ज करवाया था तथा पुलिस को दी गयी शिकायत में इस आयोजन को 'ब्राह्मण और ओबीसी के बीच सामाजिक तनाव' बढ़ाने वाला बताया था।

पांचजन्य ने अपनी उपरोक्त रिपोर्ट में आक्रमक ले-आउट के साथ 'जेएनयू लीला' शीर्षक से एक बॉक्स भी प्रकाशित किया, जिसमें जेएनयू की दुष्टताएं गिनायी थीं :

''जेएनयू लीला :

* वर्ष 2000 में कारगिल में युद्ध लड़ने वाले वीर सैनिकों को अपमानित कर विवि में चल रहे मुशायरे में भारत-निंदा का समर्थन किया।

* वर्ष 2010 में बस्तर में नक्सलियों द्वारा 72 जवानों की हत्या पर जश्न मनाया गया।

* मोहाली में विश्वकप क्रिकेट के समय भारत-पाक मैच के दौरान भारत के विरुद्ध नारे लगाए गए।

* जेएनयू में भोजन के अधिकार की आड़ लेकर यहां गोमांस परोसने के लिए हुड़दंग किया जाता है।

* जम्मू-कश्मीर सहित पूर्वोत्तर राज्यों की स्वतंत्रता के लिए खुलेआम नारे लगाए जाते हैं।

* आतंकी अफजल की फांसी पर यहां विरोध में जुलूस व मातम मनाया जाता है।

* फारवर्ड प्रेस की आड़ में यहां कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं, जिनमें हिन्दुओं के देवी-देवताओं का अपमान एवं समाज को तोड़ने का षड्यंत्र मिशनरियों द्वारा रचा जाता है।'' (पांचजन्य, 8 नवंबर, 2015)

आगे हम देखेंगे कि किस आश्चर्यजनक विधि से नवंबर, 2015 में पांचजन्य की रिपोर्ट में लगाये गये उपरोक्त आरोप चार महीने बाद फरवरी, 2016 में पुलिस के गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट में बदल गये। पांचजन्य की रिपोर्ट और गुप्तचर विभाग की निम्नांकित रिपोर्ट का भाव एक है, मूल कथ्य समान है, लगाए गये आरोप समान हैं, बहुजनवादी विचारधारा वाले छात्र संगठनों को कुछ अतिवादी समूहों से जोड़ डालने की साजिशें समान हैं। सिर्फ फर्क है तो भाषा का। पांचजन्य की भाषा में जहां साहित्यिक झालरें हैं, वहीं गुप्तचर विभाग की भाषा स्वाभाविक रूप से शुष्क सरकारी भाषा है।

दिल्ली पुलिस की रपट

9 फरवरी, 2016 को जेएनयू में लगाये गये कथित देशद्रोही नारे के बाद 15 फरवरी को दिल्ली पुलिस ने अपने गुप्तचर विभाग के अधिकारियों से प्राप्त सूचना के आधार पर भारत सरकार को एक रिपोर्ट सौंपी, जिसे 'गृह मंत्रालय के सूत्रों' ने प्रेस को जारी कर दिया, जिसके आधार पर 17 और 18 फरवरी को फर्स्टपोस्ट, द हिन्दू, इंडियन एक्सप्रेस, टाइम्स ऑफ इंडिया, द टेलीग्राफआदि समेत विभिन्न अखबारों तथा टीवी चैनलों ने जेएनयू में 'नवरात्र के समय महिषासुर दिवस के आयोजन' तथा 'जेएनयू मेस में बीफ की मांग' से संबंधित खबरें प्रसारित कीं। हालांकि भाजपा समर्थक जी न्यूज व कुछ अन्य चैनलों/पत्रों को छोड़ कर अधिकांश समाचार माध्यमों ने इन आयोजनों को 'देशद्रोह' की श्रेणी में रखने को लेकर सरकार पर तंज ही कसा, लेकिन तथ्यों की जानकारी न होने के कारण वे भी इसे पूरी तरह समझ नहीं सके।

आइए, देखें कि इस रिपोर्ट में क्या है। चार पेज की यह रिपोर्ट दिल्ली पुलिस के गुप्तचर विभाग ने बनायी है, जिसका शीर्षक है 'जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में 09.02.16 की घटना पर रपट'। रिपोर्ट के पहले दो पेज 9 फरवरी, 2016 की घटना पर केंद्रित हैं। उसके बाद के दो पेज जेएनयू में 'इससे पूर्व हुई घटनाओं' के बारे में हैं, जिनमें सितंबर, 2014 में 'नवरात्र फेस्टिवल के दौरान देवी दुर्गा की जगह महिषासुर दिवस' मनाये जाने तथा 'हॉस्टल मेस में बीफ मांगने' का उल्लेख है। पहला सवाल तो यही उठता है कि आखिर पुलिस ने अपनी रिपोर्ट का एक बड़ा हिस्सा पूर्व की ऐसी घटनाओं पर क्यों खर्च किया, जिससे कथित 'देशद्रोही' नारों का कोई संबंध नहीं है? और यह रिपोर्ट किन कारणों से तुरंत प्रेस को उपलब्ध करवा दी गयी? इस रिपोर्ट के मीडिया में प्रकाशित होने से दो दिन पूर्व, 15 फरवरी को ही भाजपा सांसद योगी आदित्यनाथ का एक बयान विभिन्न अखबारों में छपा, जिसमें उन्होंने 'बीफ पार्टी का आयोजन करने तथा 'महिषासुर जयंती' को देशद्रोही कृत्य बताते हुए इसे मनाने वाले जेएनयू को तत्काल बंद किये जाने का सुझाव दिया।

पहले रिपोर्ट के आरंभिक दो पन्नों को देखें, जिसमें देशद्रोही नारों वाली घटना

का जिक्र है :

गृह मंत्रालय को भेजी गयी उपरोक्त रिपोर्ट के इन दो पन्नों में कहा गया है कि 'यहां यह बताना महत्त्वपूर्ण होगा कि विशेष शाखा की युवा व छात्र इकाई द्वारा लगातार जेएनयू के विद्यार्थियों, विद्यार्थी संगठनों व जेएनयू से जुड़े युवाओं व अन्य व्यक्तियों की गतिविधियों पर नजर रखी जाती है।'

रिपोर्ट में कहा गया है कि 'लगभग 5 बजे शाम को डीएसयू के छात्र, उनके नेता उमर खालिद, संयोजक-डीएसयू के नेतृत्व में साबरमती ढाबे के पास एकत्रित हुए। कार्यक्रम स्थल पर लगभग 80-100 डीएसयू व वामपंथी छात्र थे।'

साथ ही दावा किया गया है कि वाम समर्थित छात्र समूह नारे लगा रहे थे कि 'भारत की बर्बादी तक जंग रहेगी, जंग रहेगी', 'कश्मीर की आज़ादी तक जंग रहेगी, जंग रहेगी', 'इंडिया गो बैक', 'पाकिस्तान जिंदाबाद', 'कितने अफजल मारोगे, हर घर से अफजल निकलेगा।'

'इस बीच एबीवीपी के लगभग 30-40 कार्यकर्ता, जेएनयूएसयू के संयुक्त सचिव श्री सौरव कुमार शर्मा के नेतृत्व में वहां पहुंचे और डीएसयू के खिलाफ 'भारत माता की जय' के नारे लगाने लगे।'

यहां यह भी ध्यान दें कि इस 'सरकारी' रिपार्ट में जहां वाम संगठनों से जुड़े सभी छात्रों के सिर्फ नाम लिखे गये हैं, वहीं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के छात्र-संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के अध्यक्ष सौरभ कुमार शर्मा के नाम के आगे सम्मानसूचक 'श्री' लगाया गया है।

इसके अतिरिक्त रिपोर्ट यह भी बताती है, ''लगभग 7.30 बजे डीएसयू व एबीवीपी के कार्यकर्ताओं ने साबरमती ढाबे से गंगा ढाबे की ओर कूच किया। वे एक-दूसरे के खिलाफ नारे लगा रहे थे। 8.30 बजे डीएसयू व एबीवीपी के कार्यकर्ता शांतिपूर्वक तितर-बितर हो गए।''

प्रश्न यह उठता है कि जब जेएनयू में कश्मीर को आत्मनिर्णय का अधिकार दिये जाने संबंधी ऐसे आयोजन, प्रदर्शन और नारेबाजी आम बात हैं तथा इस बार भी हमेशा की तरह दोनों गुटों के लोग नारा लगाने के बाद 'शांतिपूर्ण' तरीके से अलग हो गये थे, तो इस बार ऐसा क्या खास था, जिस कारण इतना बड़ा हंगामा खड़ा किया गया? रिपोर्ट कहती है, ''एबीवीपी यह आरोप लगा रही है कि डीएसयू व अन्य वाम-समर्थित छात्र समूह राष्ट्र-विरोधी गतिविधियां कर रहे हैं। वह चाहती है कि राष्ट्रविरोधी गतिविधियों में संलग्न छात्रों के विरुद्ध कार्यवाही होनी चाहिए।''

उपरोक्त बातें रिपोर्ट के पहले दो पन्नों पर हैं।

पुलिस रपट पर संघ की छाप

अब इसके आगे के दो पन्नों को देखें, जिसे बिना किसी परिस्थितिजन्य संदर्भ

के गुप्तचर विभाग की इस रिपोर्ट में जोड़ा गया है। इन दो पन्नों में रिपोर्ट कहती है, ''16.10.2015 को एसीपीए युवा व छात्र इकाई, विशेष शाखा ने विश्वविद्यालय परिसर में तत्कालीन कुलपति सुधीर कुमार सोपोरी से मुलाकात की। इस बैठक में विभिन्न विषयों पर चर्चा की गयी, जिनमें परिसर में निगरानी के लिए सीसीटीवी कैमरे लगाने का प्रस्ताव शामिल था ताकि अवांछित गतिविधियां रोकी जा सकें। यह चर्चा भी हुई कि कुछ छात्र समूह जेएनयू परिसर में नारेबाजी और विरोध प्रदर्शन करते हैं। कई बार ऐसे प्रदर्शनों-नारों की प्रकृति राष्ट्र-विरोधी होती है। कई बार कंप्यूटर से तैयार किये गए आपत्तिजनक पोस्टर होस्टल परिसर में लगाये जाते हैं। कई मौकों पर ये पोस्टर समाज के देश-प्रेम/धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचाने वाले होते हैं। यह भी तय पाया गया कि जेएनयू प्रशासन को पुलिस की मदद से डेमोक्रेटिक स्टूडेंट्स यूनियन की आपत्तिजनक/राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों पर नियंत्रण किया जायेगा।''

यहां ध्यान देने योग्य यह है कि स्पेशल ब्रांच के एसीपी स्तर के अधिकारी ने जेएनयू के कुलपति से 6 अक्टूबर, 2015 को मुलाकात की थी। महिषासुर शहादत दिवस का आयोजन शरद पूर्णिमा को किया जाता है, जो पिछले साल 26 अक्टूबर को थी। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालय कैंपस में सीसीटीवी कैमरा लगाने की कवायद इसी आयोजन के मद्देनजर की जा रही थी। रिपोर्ट की शब्दावली पर भी ध्यान दें। यहां कितनी सफाई से 'देश-प्रेम/धार्मिक भावनाओं' और 'आपत्तिजनक/राष्ट्र-विरोध' को एक दूसरे का पूरक बना दिया गया है। हम यह सवाल यहां फिलहाल छोड़ भी दें कि क्या भावनाएं सिर्फ ब्राह्मण संस्कृति के रक्षकों की ही आहत होती हैं या सिर्फ उन्हें पसंद नहीं आने से कोई चीज 'आपत्तिजनक' हो जाती है, तब भी यह सवाल तो बचा ही रह जाता है कि क्या वंचित तबकों द्वारा 'महिषासुर दिवस' का आयोजन 'राष्ट्रद्रोह' है? गौरतलब है कि बाद में क्रमशः 24 और 26 फरवरी को लोकसभा और राज्यसभा में इसी रिपोर्ट को आधार बनाकर सरकार ने भी महिषासुर आन्दोलन पर हमला बोला और इसे देशद्रोही कृत्यों से जोड़ दिया। रिपोर्ट में यह भी ध्यातव्य है कि इस आयोजन को बड़ी चतुराई से माओवाद से प्रभावित संगठन डीएसयू से जोड़ दिया गया है, जबकि यह सर्वविदित है कि यह आयोजन फुले-आंबेडकरवाद पर आधारित बहुजन विद्यार्थियों का संगठन 'ऑल इंडिया बैकवर्ड स्टूडेंट्स फोरम' करता था।

उपरोक्त रिपोर्ट में आगे कहा गया है, ''जेएनयू में अनेक वाम-समर्थित छात्र संगठन सक्रिय हैं। इनमें से अधिकांश अप्रतिक्रियाशील व नरम प्रकृति के हैं। वे अक्सर विभिन्न राष्ट्रीय व स्थानीय मुद्दों पर नारेबाजी, विरोध प्रदर्शन करते हैं परन्तु उनके आयोजनों में उपस्थिति बहुत कम रहती है। परन्तु दो छुपे हुए छात्र समूह 1.) डीएसयू व 2.) डीएसएफ प्रतिक्रियाशील हैं। इनकी संख्या दस से कम है। जब-तब वे कम्प्यूटर पर देवी-देवताओं के नग्न व आपत्तिजनक पोस्टर तैयार कर उन्हें दीवारों पर चिपकाते हैं, जिससे समाज की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचाई जा सके।

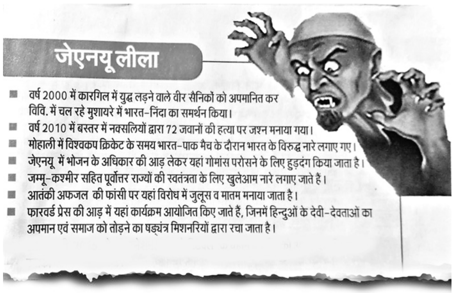

जेएनयू लीला

- वर्ष 2000 में कारगिल में युद्ध लड़ने वाले वीर सैनिकों को अपमानित कर विवि. में चल रहे मुशायरे में भारत-निंदा का समर्थन किया।
- वर्ष 2010 में बस्तर में नक्सलियों द्वारा 72 जवानों की हत्या पर जश्न मनाया गया।
- मोहाली में विश्वकप क्रिकेट के समय भारत-पाक मैच के दौरान भारत के विरुद्ध नारे लगाए गए।
- जेएनयू में भोजन के अधिकार की आड़ लेकर यहां गोमांस परोसने के लिए हुड़दंग किया जाता है।
- जम्मू-कश्मीर सहित पूर्वोत्तर राज्यों की स्वतंत्रता के लिए खुलेआम नारे लगाए जाते हैं।
- आतंकी अफजल की फांसी पर यहां विरोध में जुलूस व मातम मनाया जाता है।
- फारवर्ड प्रेस की आड़ में यहां कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं, जिनमें हिन्दुओं के देवी-देवताओं का अपमान एवं समाज को तोड़ने का षड्यंत्र मिशनरियों द्वारा रचा जाता है।

पांचजन्य के 8 नवंबर, 2015 अंक में प्रकाशित 'जेएनयू : दरार का गढ़' शीर्षक आवरण कथा के एक अंश की कतरन। संघ के मुखपत्र द्वारा लगाए गए ये आरोप चार महीना बाद दिल्ली पुलिस की गुप्तचर-शाखा की रिपोर्ट में तब्दील हो गए।

उनकी पूर्व की गतिविधियों में शामिल है :

1) उन्होंने अफजल गुरु की मौत पर शोक मनाया।

2) उन्होंने 2010 में दंतेवाड़ा, छत्तीसगढ़ में सीआरपीएफ़ जवानों की हत्या का जश्न मनाया।

3) उन्होंने देवी दुर्गा के स्थान पर पिछले वर्ष नवरात्रि के दौरान 14 सितम्बर को महिषासुर की पूजा की।

4) उन्होंने कश्मीरी अलगाववादी नेता गिलानी को सभा में आमंत्रित किया परन्तु जेएनयू प्रशासन ने इसकी अनुमति नहीं दी।

5) उन्होंने हॉस्टल की मेस में बीफ की मांग की।'' *(गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट)*

क्या पुलिस द्वारा रिपोर्ट में रखी गयी उपरोक्त आरोपों की सूची पांचजन्य की 'जेएनयू लीला' का भावानुवाद, अनुवाद मात्र नहीं है? रिपोर्ट के इस हिस्से में यह भी कहा गया कि 'ये समूह देवी-देवताओं की नंगी तस्वीरें दीवारों पर लगाते हैं', जबकि ऐसी कोई घटना जेएनयू में आज तक हुई ही नहीं! 2011 में ऑल इंडिया बैकवर्ड स्टूडेंट्स फोरम ने जो पोस्टर जेएनयू की दीवारों पर लगाये थे, वह फारवर्ड प्रेस में प्रकाशित प्रेमकुमार मणि के एक लेख 'किसकी पूजा कर रहे हैं बहुजन?' की कटिंग थी, जिसमें महिषासुर के बहुजन समुदाय से होने का उल्लेख था। (देखें, इस पुस्तक में पेज - 17) उसमें न किसी देवी-देवता के प्रति कोई आपत्तिजनक बात थी, न ही कभी किसी देवी-देवता की कथित नंगी तस्वीर जेएनयू में लगायी गयी। पुलिस की रिपोर्ट एक सुनियोजित साजिश के तहत यह कहती है कि 'उन्होंने देवी दुर्गा के स्थान पर पिछले वर्ष नवरात्रि के दौरान 14 सितम्बर को महिषासुर की पूजा की।' जबकि सच्चाई यह है कि महिषासुर दिवस जेएनयू समेत पूरे देश में शरद पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है, जो दशहरा के दिन से पांच दिन बाद होता है और नवरात्र की तारीखें तो उससे भी पहले होती हैं। 2014 में भी जेएनयू समेत देशभर में महिषासुर दिवस 9 अक्टूबर को मनाया गया था, जबकि नवरात्र 25 सितंबर से लेकर 3 अक्टूबर तक थी और दशहरा 4 अक्टूबर को था। जेएनयू में 2014 का महिषासुर दिवस फारवर्ड प्रेस पर मुकदमा होने के कारण काफी चर्चित रहा था। प्रायः सभी समाचार माध्यमों ने इससे संबंधित खबरें प्रसारित की थीं तथा पुलिस

रिकार्ड में भी इसकी तारीख 9 अक्टूबर ही दर्ज है। ऐसे में यह समझना कठिन नहीं है कि 'नवरात्र के दौरान महिषासुर दिवस के आयोजन' की झूठी रिपोर्ट सिर्फ भावनाओं को भड़काने के लिए दी गयी है।

इसी प्रकार, यह कहना कि किसी छात्र संगठन ने 'हॉस्टल मेस में बीफ परोसे जाने की मांग की', भी सरासर झूठ है। 'द न्यू मैटिअरलिस्ट' द्वारा 'बीफ-पोर्क फेस्टिवल' का आयोजन सिर्फ कुछ घंटों के लिए एक मैदान में किया जाना था, न कि मेस में। यहां एक बार फिर से बहुत चतुराई से 'बीफ-पोर्क' में से 'पोर्क' को भी गायब कर दिया गया है, ताकि इसे एक धार्मिक रंग दिया जा सके। संविधान सम्मत सेकुरलवाद के स्थान पर हिंदू-सांप्रदायिकता को उकसाने वाली यह पुलिस रिपोर्ट इन दोनों आयोजनों के आयोजकों को छलपूर्वक डीएसयू तथा डीएसएफ से भी जोड़ देती है। इनमें से डीएसयू भारत सरकार द्वारा प्रतिबंधित संगठन सीपीआई (माओवादी) से जुड़ा छात्र संगठन माना जाता है। पुलिस और सरकार की कोशिश है कि बहुजन युवाओं को सरकारी सुरक्षा एजेंसियों के रडार पर रहने वाले संगठनों से जोड़ दिया जाए, जिनसे वास्तव में उनकी वैचारिक संगति भी नहीं रही है, ताकि वे समाज से मिल रहा समर्थन खो दें तथा बाद में उन्हें पुलिस प्रताड़ना का शिकार बनाया जा सके।

शिक्षण संस्थानों में सरस्वती मंदिर की स्थापना की मांग करने वाली भारतीय जनता पार्टी इन दिनों सत्ता में है। भाजपा सरकार ने जेएनयू में कथित देशद्रोह की घटना का संदर्भ देते हुए गत 18 फरवरी को आदेश दिया है कि हर विश्वविद्यालय में 207 फीट ऊंचा राष्ट्रध्वज तिरंगा लगाया जाए, जिसकी शुरूआत जेएनयू से हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि अगर उनकी यह योजना निर्विरोध सफल हुई तो राष्ट्रध्वज स्थल पर बाद में 'भारत माता' की शेर सवार मूर्ति बनाने का भी ज्यादा विरोध नहीं हो पाएगा। आजादी के बाद शक्ति के जो ब्राह्मणवादी मिथ गढ़े गये हैं, उनमें 'माता शेरावाली दुर्गा' और 'भारत माता' एक ही हैं। सांस्कृतिक वर्चस्व के लिहाज से इन प्रतीकों के बड़े गहरे अर्थ हैं। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सांस्कृतिक वर्चस्व ही आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के मूल में रहता है। राष्ट्रध्वज लगाना सभी भारतवासियों के लिए गौरव की बात है, लेकिन जिन परिस्थितियों और जिस मंशा से भाजपा सरकार इसे कर रही है, उसकी निंदा की जानी चाहिए।

बहरहाल, जेएनयू को पुलिस, सरकार और मीडिया के एक हिस्से के गठजोड़ के तहत 'देशद्रोही' साबित कर डालने के अभियान के पीछे की ये सच्चाइयां अंतिम नहीं हैं। इन परतों के नीचे भी कई परतें हैं। लेकिन इतना तय है कि उच्च शिक्षा में बहुजन युवाओं की दस्तक ने वर्चस्वकारी खेमों में जो हलचल मचायी है, उसकी उथल-पुथल और थरथराहटें आने वाले वर्षों मे भी जारी रहेंगी। जीत तो सत्य, समानता और न्याय की ही होनी है, चाहे इसमें कितना भी समय लगे।

(फारवर्ड प्रेस, मार्च, 2016)

नहीं रुकेगा सांस्कृतिक संघर्ष

कांचा आयलैया

कुछ समय पहले प्रेमकुमार मणि ने महिषासुर और दुर्गा पर फॉरवर्ड प्रेस में एक लेख लिखा था (देखें, पेज-17)। फॉरवर्ड प्रेस दिल्ली से निकलने वाली पत्रिका है। उसने शूद्रों के इतिहास के पुनर्लेखन की जिम्मेदारी ली है, क्योंकि इसका लेखन अभी तक ब्राह्मणवादी नजरिये से होता रहा है। ब्राह्मणवादियों का पूरा लेखन काल्पनिक कहानियों पर ही आधारित है, जो समाज में आजादी की लड़ाई के दौरान लोकप्रिय रहा।

अपने लेख में मणि ने बताया कि कैसे दुर्गा ने महिषासुर को मार गिराया। प्रेमकुमार मणि बिहार के ओबीसी समुदाय से ताल्लुक रखते हैं।

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के ऑल इंडिया बैकवर्ड स्टूडेंट्स फोरम ने इस लेख को पर्चे की शक्ल में छापा और फिर महिषासुर जयंती मनाई।

हिंदुत्ववादी ताकतों को इस कार्यक्रम से बड़ी ठेस पहुंची, क्योंकि यह एक तरह से उत्तर भारत में ओबीसी के लिए क्रांतिकारी ऐतिहासिक बदलाव था। उन्होंने इस बारे में पुलिस और जेएनयू प्रशासन से शिकायत की।

जेएनयू प्रशासन को भी इस नए इतिहास लेखन से परेशानी हो रही थी, क्योंकि वह भी ब्राह्मणवादी इतिहास में भरोसा करते थे। बहुसांस्कृतिक इतिहास लेखन 'मंडल' के बाद के युग की देन है, जिसने भारतीय शिक्षण संस्थानों को बदला।

जेएनयू की प्रॉक्टोरियल कमेटी ने पर्चे का अध्ययन किया और उन्होंने एआईबीएसएफ के नेताओं से उनका पक्ष सुना। उन्हें इस इतिहास लेखन में कुछ भी बुरा नहीं लगा। जब से अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के नेतृत्व में सवर्ण छात्रों के समूहों ने रामनवमी, गणपति और दुर्गापूजा त्योहार मनाने की शुरूआत की, तब से दलित और ओबीसी छात्रों ने अपने आइकन को लेकर त्योहार मनाना शुरू कर दिया है।

दलित और ओबीसी छात्रों को लगता है कि इससे उन्हें ओबीसी को हिंदूकरण से निकालने का रास्ता मिलेगा। बाबरी मस्जिद विध्वंस के दौरान हिंदुत्व की ताकतों

ने दलितों और ओबीसी को आगे रखकर अपने मंसूबे को अंजाम दिया।

दक्षिण भारत में द्रविड़ प्रतीकों को मनाने का उत्सव जारी रहा है। ओणम त्योहार बलिराजा की याद में मनाया जाता है, जिसे एक हिंदू वामन राजा ने आपराधिक षड्यंत्र कर मार दिया था। वहीं मैसूर में महिषासुर, रावण और अन्य द्रविड़ देवी-देवताओं के मंदिर हैं। लोग वहां जाकर पूजा करते हैं। लेकिन ऐसा करनेवाले केवल दलित और शूद्र होते हैं।

आंध्र प्रदेश और तेलंगाना में कई द्रविड़ देवी-देवताओं की पूजा की जाती है, जिनका दुर्गा की तरह कोई खूनी इतिहास नहीं है। लाखों लोग ऐसे देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। हिंदू ताकतें समाज का ब्राह्मणीकरण चाहती हैं, लेकिन वह अपने मंसूबे में सफल नहीं हो पाई है।

मैसूर में महिषासुर की बड़ी मूर्ति है। वास्तव में कई ऐसी कहानियां हैं, जो आपको यह बताती हैं कि मैसूर नाम भी महिषासुर से आया है। पहले इस इलाके को महिषा मंडल कहा जाता था।

यह एक तरह से हिंदुत्ववादी ताकतों के गाय आधारित राष्ट्रवाद के खिलाफ भैंस आधारित राष्ट्रवाद का विद्रोह है। महिषासुर को भैंस की तरह काले रंग में दिखाया जाता है।

पेरियार रामासामी नायकर ने भी ऐसे कई द्रविड़ प्रतीकों को खोज निकाला था, जो हिंदू ब्राह्मणवाद से लड़ते रहे हैं। शिक्षा मंत्री स्मृति ईरानी ने जिस तरह से संसद में चुनिंदा तरीके से एक पर्चे को पढ़ा, उसने बीजेपी सरकार और दलित-ओबीसी संस्कृति के बीच वैचारिक संघर्ष को तेज कर दिया है।

द्रविड़ इतिहास का विरोध कर मंत्री ईरानी ने एक तरह से असहिष्णुता ही दिखाई है। संघ परिवार दलित संस्कृति को गैर-भारतीय संस्कृति की तरह देखता है, जैसा कि वह इस्लाम और ईसाइयत के साथ करते हैं। इनके विचार में भारतीय संस्कृति ब्राह्मणवादी संस्कृति है। ईरानी ने ही एक यूनिवर्सिटी को चिट्ठी लिखकर हॉस्टल की कैंटीन में केवल शाकाहारी भोजन परोसने के लिए कहा था।

ईरानी के विचार में केवल दुर्गा ही भारतीय हैं, न कि महिषासुर। उनके मुताबिक केवल वामन ही भारतीय हैं, न कि बलि राजा। उनके विचार में राम भारतीय हैं, न कि रावण। उनके विचार में सीता केवल भारतीय हैं, न कि शूर्पनखा। इसलिए महिषासुर और दुर्गा राष्ट्रवादी बनाम राष्ट्रविरोधी का प्रतीक है।

महिषासुर रोहित वेमुला, कन्हैया कुमार, उमर खालिद और अन्य छात्रों की तरह राष्ट्रविरोधी है। महिषासुर और दुर्गा को लेकर मूल वैचारिक संघर्ष हिंसा और उसका शिकार होने का है। ब्राह्मण विचारधारा इस मसले को धर्म और अधर्म से जोड़कर देखती है और वह अधार्मिकों को मारने का आदेश देती है।

अगर आप इस तरीके को उचित ठहराएंगे, तो सभी अधार्मिकों को खत्म कर

दिया जाएगा। सभी दलित-बहुजनों के पास वैकल्पिक इतिहास है और उन्हें खत्म करना होगा, क्योंकि वे ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म को नहीं मानते हैं।

इसी आधार पर मुस्लिम और ईसाइयों को खत्म करना होगा, क्योंकि उनकी मान्यता राम और दुर्गा के मुकाबले गॉड और अल्लाह में है। उन्होंने कलबुर्गी, अखलाक और रोहित वेमुला को मारकर ऐसा किया भी।

2014 में आम चुनावों के दौरान हिंदुत्व ने नरेंद्र मोदी को आगे रखा, क्योंकि वह ओबीसी समुदाय से ताल्लुक रखते थे, हालांकि सत्ता में आने के बाद वह हर संभव दलित और ओबीसी की संस्कृति पर हमला कर रहे हैं। वह उनकी संस्कृति, इतिहास, मान्यताएं, खाना और उनके प्रतीकों पर हमला कर रहे हैं।

स्मृति ईरानी का दलित-ओबीसी संस्कृति पर हमला करने का भयानक परिणाम होगा, जैसा कि रोहित वेमुला की मौत के बाद हुआ है। अगर स्मृति ईरानी दलित-ओबीसी की पारंपरिक संस्कृति को खत्म करना चाहती हैं तो बीजेपी को यह समझना होगा कि इससे नरेंद्र मोदी के 'मेक इन इंडिया' प्रोजेक्ट को कितना बड़ा नुकसान होगा।

दलित-बहुजन और सवर्णों के बीच अगर पंचायत स्तर से लेकर संसदीय स्तर पर सांस्कृतिक संघर्ष की शुरूआत हो गई है तो कोई इस सांस्कृतिक संघर्ष को रोक नहीं पाएगा।

(कैच न्यूज, फरवरी, 2016)

महिषा के पक्ष में कन्नड़ बुद्धिजीवी

एम. दिलीप कुमार

मैसूर के तर्कवादियों ने 11 अक्टूबर 2015 को, नवरात्रि की पूर्वसंध्या पर, चामुण्डी हिल्स में महिषासन हब्बा (महिष उत्सव) का आयोजन किया। कार्यक्रम के आयोजकों में कर्नाटक दलित वेलफेयर ट्रस्ट व अन्य प्रगतिशील संगठन शामिल थे। इस मौके पर महिष मंडल के संस्थापक और इस कल्याणकारी राज्य के शासक महिष की मूर्ति पर पुष्पवर्षा की गई।

मैसूर विश्वविद्यालय के मीडिया अध्येता व तर्कवादी प्रोफेसर बीपी महेशचंद्र गुरू ने इस अवसर पर कहा, ''कुछ निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा महिष को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि उन्हें चामुण्डेश्वरी ने मारा था, जैसा कि हिंदू धर्मग्रंथों में बताया गया है। महिष एक बौद्ध-बहुजन राजा थे, जो मानवीय मूल्यों और प्रगतिशील विचारधारा के आधार पर महिष मंडल पर शासन करते थे। वे समानता और न्याय के प्रतीक थे। उनकी तलवार वीरता का प्रतिनिधित्व करती है और सांप प्रकृति प्रेम का। यह प्रकृति प्रेम बौद्धों ने नाग संस्कृति से विरासत में पाया था। इसके पर्याप्त प्रमाण पाली साहित्य में उपलब्ध हैं। ब्राह्मणवादी शक्तियां इतिहास को झुठलाकर यथास्थिति बनाए रखना चाहती हैं और इसलिए उन्होंने चामुण्डेश्वरी द्वारा महिषासुर के वध की काल्पनिक कहानी गढ़ी है। मूल निवासियों का दशहरा पर्व महिष हब्बा के साथ शुरू होता है। अब मूल निवासी दशहरा नहीं, महिष के सम्मान में त्योहार मनाएंगे।''

लोकगाथाओं के विशेषज्ञ प्रोफेसर कालेगौड़ा नागावर ने भी इस ऐतिहासिक कार्यक्रम में हिस्सा लिया। उन्होंने कहा कि महिष, महिष मंडल के राजा थे, जो कि मैसूर का पूर्ववर्ती राज्य था। नागावर ने कहा, ''वे एक महान बौद्ध राजा थे, जिनके प्रगतिशील शासन में समाज के सभी वर्गों का सशक्तिकरण हुआ। तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा गया है। लोगों को सच को समझना चाहिए और उन्हें खलनायक की तरह देखना बंद करना चाहिए। हिंदू धर्मग्रंथों में महिष की नकारात्मक छवि प्रस्तुत की गई है। इस क्षेत्र के लोगों को महिष मंडल के झंडे तले दशहरे को अलग ढंग से मनाना

चाहिए।''

जानेमाने लेखक बन्नूर राजू ने याद दिलाया कि चामुण्डी हिल्स को पहले महाबलेश्वर मंदिर के लिए जाना जाता था। ''आज भी पहाड़ी पर महाबलेश्वर का एक मंदिर है, जिसका नाम मैसूर के यदूवम्शा शासकों ने चामुण्डी के नाम पर रख दिया। उन्होंने पुजारी के साथ मिलीभगत कर एक झूठी कथा गढ़ी कि चामुण्डेश्वरी ने महिषासुर का वध किया था। यह आधारहीन और निंदनीय है।''

प्रगतिशील चिंतक व 'महिष मंडल' नामक पुस्तक के लेखक सिद्धस्वामी का तर्क था, ''महिष संप्रदायवादी लेखकों के निशाने पर आ गए और उन्होंने महिष को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया। महिष एक महान बौद्ध शासक थे, जो बुद्ध और अशोक के उच्च आदर्शों में यकीन रखते थे। मैसूर क्षेत्र के मूल निवासियों को महिष हब्बा के झंडे तले संगठित होकर मैसूर के इतिहास का पुनर्लेखन करना चाहिए।'' कार्यक्रम में कर्नाटक दलित वेलफेयर ट्रस्ट के अध्यक्ष शांताराजू के नेतृत्व में सैकड़ों प्रगतिशील चिंतकों, संगठकों व कार्यकर्ताओं ने हिस्सा लिया। शांताराजू ने उपस्थित लोगों से कहा कि कर्नाटक की सांस्कृतिक व ऐतिहासिक राजधानी के निवासियों का यह कर्तव्य है कि वे इस राज्य के उदय और महिष मंडल के संस्थापक के असली इतिहास को जानें और दूसरों को बताएं। मैसूर के पूर्व मेयर पुरुषोत्तम, मैसूर विश्वविद्यालय की रिसर्च स्कॉलर्स एसोसिएशन के अध्यक्ष गोपाल, दलित स्टूडेंट्स फेडरेशन के पूर्व अध्यक्ष डीके श्रीनिवास, दलित स्टूडेंट्स फेडरेशन के अध्यक्ष गुरुमूर्ति, प्रगतिशील लेखक हरोहल्ली रविंद्र, जय भीम संगठन के अध्यक्ष इस्माइल शशि, तागादूर व शोधार्थी गौथम देवनूर उन लोगों में से थे, जिन्होंने इस आयोजन में भाग लिया। 23 अक्टूबर को क्षेत्र के मूलनिवासी समुदायों ने चामुण्डी हिल्स पर महिष के सम्मान में दशहरा मनाया।

(फारवर्ड प्रेस, दिसंबर, 2015, अंग्रेजी से अनुवाद : अमरीश हरदेनिया)

छत्तीसगढ़ में महिषासुर वंशजों का विद्रोह

नंदिनी सुंदर

[लेखिका ने जिस व्हाट्सएप संदेश का जिक्र इस लेख में किया है, वह सोशल मीडिया के विभिन्न प्लेटफार्मों पर पिछले तीन वर्षों से घूम रहा है। अज्ञात व्यक्ति द्वारा तैयार किए गया यह संदेश लाखों लोगों द्वारा शेयर किया जा चुका है, जिससे भावनाएं आहत होने का दावा करते हुए हिंदूवादी संगठन आदिवासी, पिछड़े व दलित समुदाय के लगभग 100 लोगों पर विभिन्न राज्यों में मुकदमा दर्ज करवा चुके हैं। जिन लोगों पर मुकदमे दर्ज हुए हैं उनमें प्रोफेसर, डॉक्टर, इंजीनियर, शोधार्थी व सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ता शामिल हैं।

उपरोक्त में से अधिकांश मामलों में माननीय अदालतों ने अग्रिम जमानतें मंजूर कीं, जबकि कुछ लोगों को जेल भी जाना पड़ा। जमानतें उन लोगों को मिलीं, जिनके वकीलों ने तथ्यों के साथ तर्कपूर्ण ढंग से महिषासुर-दुर्गा से संबंधित आदिवासी-बहुजन परंपराओं को अदालत के समक्ष रखा। इसके विपरीत जिन लोगों ने इस प्रकार का संदेश प्रसारित करने के तथ्य को ही झुठलाने की कोशिश की, उनके मामलों में अदालत ने पुलिस की इस दलील को माना कि आरोपों की जांच के लिए गिरफ्तारी आवश्यक है।

इसी व्हाट्सएप संदेश से संबंधित एक मुकदमा छत्तीसगढ़ के आदिवासी नेता मनीष कुंजाम के खिलाफ भी सितंबर, 2016 में दर्ज करवाया गया। मनीष ने इस मुकदमे में जमानत लेने से ही इंकार कर दिया तथा जनआंदोलन और जनशिक्षण का रास्ता चुना। जनदबाव के कारण राज्य सरकार को पीछे हटना पड़ा। उनकी गिरफ्तारी नहीं हो सकी। दरअसल, मनीष कुंजाम पर हुए मुकदमे से पूर्व अप्रैल, 2016 में कुछ आदिवासी संगठन महिषासुर के अपमान के विरोध में एफ़आईआर दर्ज करवा चुके थे, जिसमें हिंदुत्ववादी संगठनों से जुड़े आरोपियों (भाजपा नेता सतीश दुबे व अन्य) को हाईकोर्ट ने यह कहते हुए जमानत देने से इंकार कर दिया था कि उन्होंने महिषासुर के बारे में अपमानजनक शब्दों का प्रयोग कर एक बड़े सामाजिक तबके की भावना आहत की है।

यह लेख इन संदर्भों के वैचारिक और विधिक पक्षों को सामने लाता है।]

छत्तीसगढ़ में हिंदुत्ववादियों को एक खास तरह का भय सता रहा है। यह भय उन आदिवासियों और दलितों की चेतना का है, जिन्हें मूलनिवासी कहते हैं। ये मूलनिवासी ब्राह्मणवादी बंधनों को स्वीकार नहीं करते हैं। इस भय को झाड़-फूंक

से भगाने के लिए सभी पुरातनपंथी शक्तियों ने आपस में एक 'पवित्र गठजोड़' कायम कर लिया हैं। इस गठजोड़ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, स्थानीय व्यापारी, मीडिया तो शामिल हैं ही, इसमें पुलिस भी शामिल है।

सुकमा, छत्तीसगढ़ के आदिवासी महासभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष मनीष कुंजाम ने 15 सितंबर, 2016 को एक वाट्सएप समूह को एक मैसेज फॉरवर्ड किया, जिसके वे स्वयं भी सदस्य हैं। यह मैसेज दुर्गा और महिषासुर के संघर्ष की आदिवासियों की व्याख्या को ही नए सिरे से लोगों के सामने प्रस्तुत करता है। हम सभी जानते हैं कि महिषासुर मूलनिवासियों के राजा थे। भेजे गए इस मैसेज में इस बात को इंगित किया गया था कि बंगाल में दुर्गा की प्रतिमा को तब तक अधूरा माना जाता है, जब तक कि उसमें सेक्स वर्कर के घर से लाई गई मिट्टी को मिलाया न गया हो। वाट्सएप पर भेजा गया यह मैसेज सेक्स वर्कर के घर से मिट्टी लाने की परंपरा के जन्म के कारणों की व्याख्या करता है। मैसेज बताता है कि ब्राह्मण आमने-सामने के खुले युद्ध में बहादुर राजा महिषासुर को पराजित करने में अक्षम थे। उन्होंने छल-कपट से महिषासुर को पराजित करने के लिए दुर्गा के रूप में एक सुन्दरी को भेजा। उस सुन्दरी ने आठ दिनों तक महिषासुर को सुरापान और अन्य क्रीड़ाओं के आमोद-प्रमोद में मस्त रखा तथा नवें दिन मौका पाकर उनकी हत्या कर दी। मनीष कुंजाम का वाट्सअप मैसेज यह भी बताता है कि ब्राह्मणों ने न केवल मूलनिवासी राजा को पराजित किया, इसके साथ ही उन्होंने आदिवासियों की आराध्य देवी को मूलनिवासी राजा की हत्यारिनी ठहरा दिया। (शक्ति को एक आदिवासी मातृ देवी का ही रूप माना जाता है, जिसे आर्यों ने अपने हिसाब से ढाल लिया)। यह मैसेज पाठकों से यह भी सवाल पूछता है कि क्या किसी देवी-देवता/दैत्य की बहुत सारी भुजाएं हो सकती हैं, क्या कोई आधे जानवर के रूप में होते हुए, एक मानव के रूप में जीवित रह सकता है। वे पाठकों से इस चित्रण पर तार्किक तौर पर सोचने का आग्रह करते हैं। अन्त में यह मैसेज मूलनिवासी समाज से जागने और इस बात को समझने का आग्रह करता है कि उनकी विचारधारा को दबाया गया। उनसे यह भी कहता है कि ब्राह्मणवादी विचारधारा के चश्मे से खुद को न देखने से उन्हें कौन रोक रहा है। मैसेज का अन्त इन शब्दों से होता है– 'नमो बुद्धा, जय भारत, जय मूलनिवासी'

विविध परंपराएं, विभिन्न अन्तर्विरोध

मनीष कुंजाम बस्तर में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) के नेता तथा पूर्व विधायक हैं। मान लिया जाए कि यदि मनीष कुंजाम इस मैसेज को भेजने वाले न होते तो, क्या उनके द्वारा मैसेज में दिए गए तथ्यों और उनके द्वारा उठाए गए सवालों को नकार दिया जाता। नहीं, ऐसा नहीं होता, क्योंकि उन्होंने मैसेज में जो तथ्य दिए हैं, जो सवाल उठाए हैं, जो वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत की है, वह भारत के इतिहास और

मिथकों की आर्यन-ब्राह्मणवादी व्याख्या से इतर व्याख्याओं की पुनर्प्रस्तुति मात्र है। इस विशाल भारतीय उपमहाद्वीप में रामायण की भी विभिन्न अन्तर्विरोधी व्याख्याएं मौजूद हैं। महज मौखिक व्याख्याओं को देखें तो, इन्हीं व्याख्याओं में से एक व्याख्या में रावण नायक के रूप में हैं और सीता, राम के स्त्रीद्वेषी नजरिए का शिकार हैं।

पूरे देश में महिषासुर उत्सव का प्रचार-प्रसार भले ही हाल की परिघटना हो सकती है, लेकिन महिषासुर की पूजा की लंबी परंपरा है और भारतीय उपमहाद्वीप के व्यापक हिस्सों में फैली हुई है। झारखण्ड और पश्चिम बंगाल के असुर उन्हें अपना पूर्वज मानते हैं और नवरात्र के नौ दिनों तक शोक मनाते हैं। बुंदेलखण्ड के महोबा में महिषासुर का एक प्राचीन मंदिर है। इस मंदिर को भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग ने संरक्षित मंदिर का दर्जा दे रखा है। कम-से-कम पिछले 12 वर्षों से पुरूलिया जिले में संथाल लोग महिषासुर की पूजा करते हैं।

भारत की संसद तक में दुर्गा-महिषासुर विवाद पर बहस हुई। संसद में तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी ने दुर्गा-महिषासुर का मुद्दा उठाया। संसद में स्मृति ईरानी द्वारा इस मुद्दे को उठाने का उद्देश्य महिषासुर में आस्था रखने वालों की 'कलुषित' मानसिकता को उजागर करना था। कहा जाता है कि इंदिरा गांधी ने पहले ही यह माना था कि दुर्गा ने दलितों और आदिवासियों की हत्या की थी। इसी कारण से उन्होंने खुद की दुर्गा से तुलना को अस्वीकार कर दिया था।

दुर्भाग्य की बात यह है कि कांग्रेस सतत रूप से धर्मनिरपेक्षता पर कायम नहीं रहती है। जब मनीष कुंजाम का वाट्सएप मैसेज प्रसारित हुआ तब, बस्तर की युवा कांग्रेस कुपित हो गई और इसके नेता सुशील मौर्या ने मनीष कुंजाम के खिलाफ़ जगदलपुर कोतवाली में आरोप दर्ज कराया। आरोप दर्ज कराने की होड़ मच गई, हम पीछे न रह जाएं, इस होड़ में एक अनजाने से संगठन धर्मसेना ने सुकमा में भारतीय दंड संहिता की धारा 295 (जानबूझकर किसी समुदाय के धर्म का अपमान करना) के तहत एक एफआईआर दर्ज करायी। पुलिस ने आनन-फानन में यह एफआईआर दर्ज कर ली।

बहुत सारे स्थानीय व्यापारी आदिवासियों को 'गंवार' और 'असभ्य' समझते हैं। ध्यातव्य है कि ये बाहर से आकर बसे ऊंची जातियों के लोग हैं और लंबे समय से आदिवासियों का शोषण कर रहे हैं। इस तथाकथित अपमान का प्रतिकार करने यही लोग सड़कों पर उतर आए। 19 सितंबर 2016 को विभिन्न स्थानों पर मनीष कुंजाम का पुतला जलाया गया था और उनके वाट्सएप के विरोध में बन्द का आह्वान किया गया था। व्यापारियों और पुलिस ने मिलकर सुकमा शहर में बन्द के इस आह्वान को सफल बनाया था।

आदिवासियों ने किया था जोरदार प्रतिवाद

वैसे तो मनीष कुंजाम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) के जिला सचिव हैं, लेकिन वे इस क्षेत्र में आदिवासियों के जाने-माने नेता भी हैं। कुंजाम ने लगातार सलवा जुडुम और आपरेशन ग्रीनहंट के नाम पर होने वाले अत्याचारों, खनन कंपनियों द्वारा बस्तर में किये जा रहे विस्थापन का विरोध किया है। उन्होंने संविधान की छठी अनुसूची लागू करने के लिए भी लगातार संघर्ष किया है, यह अनुसूची पांचवी अनुसूची की तुलना में आदिवासी अधिकारों को बेहतर सुरक्षा प्रदान करती है।

जैसे ही यह खबर लोगों तक पहुंची कि उनके नेता मनीष कुंजाम को निशाना बनाया जा रहा है, बस्तर क्षेत्र के सभी मूलनिवासी समुदाय के लोगों ने प्रतिवाद करना शुरू कर दिया। बस्तर में बहुत सारे आदिवासी समुदाय हैं, मसलन हलबा, भतरा, कोया, (गोंड) धुरवा और अन्य बहुत सारे समूह, जिन्हें अनुसूचित जाति और अन्य पिछड़ा वर्ग का दर्जा प्राप्त है, जैसे कि महार, पनिका और राउत। इसके अलावा एक अन्य समूह भी है, जो अपने को सामूहिक तौर पर बस्तरिया के रूप में मानता है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने हाल के वर्षों में काफी प्रयास किया है कि उन्हें छठी अनुसूची के लिए संघर्ष करने के वास्ते मूलनिवासी के एक झंडे तले लाया जाए। इसके अलावा सर्व आदिवासी समाज या सर्व समाज जैसे सामूहिक मंच भी हैं।

उल्लेखनीय यह है कि इन सभी आदिवासी समूहों ने मनीष कुंजाम के खिलाफ मुकदमे की निंदा करते हुए बयान जारी किया। उदाहरण के लिए, कोया समाज ने कहा कि महिषासुर की बस्तर में पूजा होती है और कुंजाम के खिलाफ एफआईआर कुछ ताकतों द्वारा ब्राह्मणवादी हिंदू विचारधारा को कमजोर समुदायों, जैसे कि आदिवासी पर लागू करने की कोशिश है। इस समाज ने अपने बयान में यह भी कहा कि आदिवासियों को यह अधिकार है कि वे जिसकी चाहें, उसकी पूजा करें, इसकी चिन्ता किसी और को करने की कोई जरूरत नहीं है। उन्होंने यह भी रेखांकित किया कि कुंजाम को इस मामले में फंसाने का उद्देश्य जल, जंगल और जमीन के लिए चल रहे आदिवासियों के संघर्ष को कमजोर करना है, क्योंकि कुंजाम इस सघर्ष की मुख्य आवाज़ हैं। 22 सितंबर 2016 को सर्व आदिवासी समाज द्वारा एक अन्य प्रेस विज्ञप्ति जारी की गई थी, जिसमें कुंजाम के खिलाफ एफआईआर की निंदा की गई और उन लोगों के खिलाफ एससी/एसटी एक्ट (अत्याचारों का निवारण) के तहत मुकदमा दर्ज करने लिए कहा गया, जिन्होंने कुंजाम के खिलाफ आरोप लगाया था।

इस मामले में एससी/एसटी अत्याचार निवारण अधिनियम का मामला बनता है, क्योंकि एक सम्मानित आदिवासी नेता का पुतला जलाया गया और अन्य तरीकों से उनके सम्मान को चोट पहुंचाई गई। आखिर मनीष कुंजाम का दोष क्या था, यही न कि उन्होंने महिषासुर की नृशंस हत्या को जिस तरह चित्रित किया जाता था और उसे

उत्सव की तरह मनाया जाता था, उस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया और उससे भिन्न रास्ता अख्तियार किया? अनुसूचित जाति/जनजाति अत्याचार निवारण संशोधन अधिनियम की धारा 4 मूल अधिनियम की धारा 3 में निम्न बातें जोड़ती है :

जो लोग भी गैर एससी/एसटी हैं और यदि वे निम्न कृत्य करते हैं–

(क) किसी अनुसूचित जाति/जनजाति के सदस्य के खिलाफ तथ्यहीन, दुर्भावनापूर्ण या पीड़ित करने वाला मुकदमा या आपराधिक या अन्य कानूनी प्रक्रिया चलाते हैं,

(ख) किसी अनुसूचित जाति या जनजाति के किसी सदस्य की किसी भी चीज का विध्वंस करते हों, नुकसान पहुंचाते हों या उसकी मर्यादा भंग करते हों, जो चीज आम तौर उसके लिए गरिमामय मानी जाती हो

व्याख्या - इन चीजों में उसकी मूर्ति, फोटोग्राफ और पोर्ट्रेट शामिल हैं।

(ग) किसी अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के सदस्य के खिलाफ लिखित या मौखिक शब्दों में अथवा इशारे से अथवा दृश्यात्मक तौर पर दर्शा करके या किसी अन्य तरीके से विद्वेष, घृणा या दुर्भावना की भावना को बढ़ावा देते हैं या इसकी कोशिश करते हैं;

उपरोक्त में से कुछ भी करने वाले गैर-अनुसूचित जाति/जनजाति के सदस्य कम-से-कम 6 महीने की जेल की सजा के पात्र होंगे, यह सजा आर्थिक दंड के साथ पांच वर्ष तक भी बढ़ाई जा सकती है।

सुकमा के कोया समाज ने 26 सितंबर 2016 को बंद का आह्वान किया था। इसी बीच क्रुद्ध गांव वालों ने नामा (20 सितंबर 2016), कोरा (21 सितंबर 2016) और कुकानार (23 सितंबर 2016) साप्ताहिक बाजारों को बंद करा दिया। जैसे कि उम्मीद थी, पुलिस व्यापारियों से मिलकर सुकमा कोया समाज के 26 सितंबर के बन्द को विफल करने के लिए काम करती रही। मीडिया ने अपनी मूलनिवासी-विरोधी मानसिकता का परिचय देते हुए बाजारों की बन्दी और बन्द के आह्वान के बारे में इस तरह का प्रचार किया कि इससे गरीब व्यापारियों को अपना कारोबार संचालित करने में कितनी कठिनाई हुई और गांवों के दुकानदार कितने असंतुष्ट थे। यहां उन लोगों का पाखण्ड भी सामने आता है, जो लोग आदिवासियों के बाजार बन्द करने के इस आह्वान की वाट्सएप संदेशों में निंदा कर रहे थे, ये लोग सलवा जुडुम/सामाजिक एकता मंच/अग्नि के वही नेता हैं, जो सलवा जुडुम के दौर में साप्ताहिक बाजारों को बन्द कराते रहे हैं और अभी दूर-दराज के गांवों के लोगों को बाजार जाने से रोकते हैं।

आदिवासियों को अपमानित करने की पहले की कोशिशें

यह पहली बार नहीं था कि छत्तीसगढ़ की हिंदुत्ववादी ताकतों द्वारा आदिवासियों

का अपमान करने की कोशिश का अप्रत्याशित तौर पर उल्टा असर पड़ा हो। 2016 की शुरूआत में राजनंदगांव के मानपुर के पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ता विवेक कुमार को एक फेसबुक पोस्ट के लिए गिरफ्तार कर लिया गया था। वह फेसबुक पोस्ट भी दुर्गा और महिषासुर के संदर्भ में थी, जिसमें कथित तौर पर दुर्गा का अपमान किया गया था। दुर्गा के अपमान के विरोध में 12 मार्च, 2016 को हिदुत्ववादी ताकतों ने एक रैली निकाली, जिसमें उन्होंने नारा लगाया कि 'महिषासुर (भैंसासुर) की औलादों को, गोली मारो सालों को'। इसका परिणाम हुआ कि हिंदुत्ववादी ताकतों के खिलाफ ही एफआईआर दर्ज हो गई।

2014 में महिषासुर पर लेख प्रकाशित करने के चलते दिल्ली पुलिस ने फारवर्ड प्रेस के कार्यालय पर छापा मारा और पत्रिका के मालिक आयवन कोस्का तथा संपादक प्रमोद रंजन के खिलाफ एक मुकदमा दायर किया। लेकिन असर यह हुआ कि इस चीज ने उन्हें इस विषय पर और शोध करने तथा महिषासुर और अन्य बहुजन नायक/नायिकाओं का प्रचार-प्रसार करने के लिए अधिक दृढ़ संकल्प दिया।

बस्तर के प्रशासन की प्रतिक्रिया

बस्तर प्रशासन हमेशा आदिवासियों और दलितों के खिलाफ ऊंची जाति के आप्रवासियों का पक्ष लेता रहा है। भले ही वे संवैधानिक तौर पर आदिवासियों के प्रति कानूनी तौर पर उत्तरदायी हों। आदिवासियों के प्रतिवाद से हिला प्रशासन परंपरागत परगना माझी या मुखिया लोगों को मनीष कुंजाम के खिलाफ खड़ा करने की कोशिश में लगा है। इन मुखिया लोगों में से बहुत सारे लोगों ने सलवा जुडुम के बाद अपने गांव छोड़ दिए और प्रशासन का पक्ष लेना शुरू कर दिया।

अभी यह देखना बाकी है कि राज्यपोषित हिन्दू दक्षिणपंथियों और नए सिरे से उठ खड़े होने वाली आदिवासी जागरूकता के बीच इस संघर्ष में कौन जीतता है।

('द वायर', 25 सितंबर, 2016, अंग्रेजी से अनुवाद : डॉ. सिद्धार्थ)

महिषासुर की बेटी को राष्ट्रपति ने दिया सम्मान

संजीव चंदन

महिला दिवस, 8 मार्च, 2016 को राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने बिहार के नवादा की डॉ. सौरभ सुमन को जब 'नारी शक्ति' सम्मान से सम्मानित किया तो उन्हें भी नहीं पता था कि डॉ. सौरभ सुमन को सम्मानित करना उन 14 दूसरी महिलाओं के सम्मानित करने से अलग क्यों है। तब राष्ट्रपति भवन में एक कार्यक्रम में सामाजिक कार्यों से जुड़ी देश भर की 15 महिलाएं सम्मानित की गई। इस अवसर पर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी, महिला और बाल विकास मंत्री मेनका गांधी के अलावा देश की कई नामी-गिरामी हस्तियां उपस्थित थीं।

अभी ज्यादा दिन नहीं हुए थे, जब देश की मानव संसाधन विकास मंत्री ने क्रमशः 25 और 26 फरवरी को संसद के दोनों सदनों में महिषासुर शहादत दिवस मनाए जाने पर 'क्रोध' प्रकट किया था। इसके दो सप्ताह के भीतर ही डॉ. सौरभ सुमन को राष्ट्रपति भवन में सम्मानित किया जा रहा था, जो खुद को 'महिषासुर की बेटी' मानती हैं और 2010 से ही अपने शहर नवादा में 'महिषासुर शहादत दिवस' मना रही हैं। यह सम्मान उन्हें 'कृषि-शोध' के लिए दिया गया। सत्ता के शीर्ष प्रतीक राष्ट्रपति भवन पहुंची डॉ. सौरभ इस बात का प्रतीक थीं कि यह देश एक दिन ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक कुंठा से बाहर निकल जाएगा- यह राष्ट्रराज्य एक ऐसी शख्स को सम्मानित कर रहा था, जो सत्ता की एक ताकतवर मंत्री और सत्ता में बैठे बड़े समूह की नजरों में तथाकथित 'देशद्रोही' कार्य पिछले 6 सालों से करती रही हैं। जब 8 मार्च, 2016 को उन्हें सम्मानित किए जाने की पूर्व सूचना उनके जिले में पहुंची तो जिले के पत्रकारों ने उनसे महिषासुर का शहादत-दिवस आयोजित करने संबंधी सवाल भी पूछे। 'सवाल तीखे थे, मुझे दिल्ली पहुंचना था, इसलिए उस दिन तो कुछ ख़ास मैं उन्हें कह नहीं सकी, लेकिन आज मैं बताना चाहती हूँ कि क्यों मनाते हैं हम महिषासुर शहादत दिवस', खुद को महिषासुर की बेटी बताते हुए सौरभ कहती हैं।

क्यों मनाती हैं महिषासुर शाहदत दिवस

''पहली बार मेरे मन में एक सवाल वर्ष 2010 में आया कि एक ही पर्व के तीन नाम क्यों- दुगार्पूजा, विजयादशमी और दशहरा? अपना शासन कायम करने के लिए आर्यों ने शुंभ, निशुंभ, मधु कैटभ, धुम्रलोचन आदि राजाओं को छल से मारा। उसी क्रम में राजा महिषासुर, जो बंगदेश के राजा थे, उन्हें विष्णु मारने में असफल रहा तो दुर्गा, जिसका नाम अमृतापुष्पम था, उसे सजा-धजा कर और युद्ध कला में प्रशिक्षित कर राजा महिषासुर को मारने के लिए भेजा। अमृतापुष्पम ने अपने जाल में फंसाकर राजा महिषासुर की हत्या कर दी। इसी तरह मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि पर आर्यों ने कब्जा किया। अमृतापुष्पम का नाम दुर्गा प्रचलित किया गया और उसकी पूजा की जाने लगी।

''मौर्य वंश के अंतिम शासक वृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने वृहद्रथ की हत्या करके दस मौर्य राजाओं के सुशासन का अंत कर दिया और ब्राह्मणों की सत्ता स्थापित की। दस मौर्यों के शासन को समाप्त करने के प्रतीक के तौर पर दशहरा मनाया जाने लगा।

''आश्विन महीने में विजयी पखवारा के तौर पर महान शासक अशोक विजयोत्सव मनाते थे। विजयोत्सव पखवारे का समापन आश्विन महीने की दशमी के दिन सेनापति, सभी सेनाओं एवं प्रजा के बीच राजा तलवार की सलामी लेकर करते थे। इसलिए इसे विजयादशमी कहा जाता था, लेकिन ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने इस दिवस के महत्त्व का अपने अनुसार इस्तेमाल कर लिया और पुष्यमित्र शुंग के द्वारा सम्राट वृहद्रथ की हत्या का जश्न इसी नाम से मनाया जाने लगा।''

सौरभ कहती हैं, ''इन लड़ाइयों को मैंने करीब से समझा और सामाजिक समझ पैदा करने के दृष्टिकोण से मैंने महिषासुर शहादत दिवस मनाने का संकल्प पहली बार 2010 में लिया और अपने घर में ही अपने ही परिवार को बुलाकर इसके लिए मानसिक तौर पर तैयार किया। काफी विरोध हुआ और मुझे सामाजिक प्रताड़ना झेलनी पड़ी। इसके बावजूद मैं निराश नहीं हुई। मैं आगे बढ़ती गई। वर्ष 2013 में यादव शक्ति पत्रिका पढ़ने का मौका मिला। उससे पता चला कि जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में महिषासुर शहादत दिवस खुले तौर पर मनाया गया तो मैंने भी इसे खुले तौर और वृहत् रूप से मनाने का संकल्प लिया।''

निरंतर मनाने का संकल्प

2014 में मुझे सामाजिक तौर पर भी काफी सहयोग मिला। मैंने वृहत् पैमाने पर 'महिषासुर शहादत दिवस' का आयोजन किया। बिहार सेवा संस्थान, नवादा में आयोजित इस कार्यक्रम में पूर्व मंत्री भगवान सिंह कुशवाहा, विधायक कृष्णनंदन यादव, नवादा के उपविकास आयुक्त चंद्रिका यादव, जिला परिषद् सदस्य अनिता

देवी, जिला परिषद सदस्य उमेश सिंह, नवादा के बुद्ध विहार की संस्थापक गायत्री कुमारी, चंदन चौधरी, दिलीप साव आदि सैकड़ों लोगों ने भाग लिया।

2015 में बिहार में आदर्श आचार संहिता लागू होने की वजह से वृहत् कार्यक्रम की अनुमति नही मिली। बावजूद इसके सैकड़ों महिषासुर अनुयायियों के साथ महिषासुर की प्रतिमा पर श्रद्धांजलि पुष्प अर्पित करते हुए बिहार सेवा संस्थान के प्रांगण में 'शहादत दिवस' मनाया गया। साथ ही एक समिति बनाई गई- 'महिषासुर शहादत दिवस आयोजन समिति'। इसके सदस्य हैं - डॉ. सौरभ सुमन (संरक्षिका), उमेश सिंह बौद्ध (संरक्षक), सुरेश पासवान (अध्यक्ष), कमल नयन (महासचिव), सावित्री बौद्ध (कोषाध्यक्ष), चंदन कुमार चौधरी (सदस्य), दिलीप साव (सदस्य) और गायत्री कुमारी (सदस्य)।

बहुजन समाज की बेटी का संघर्ष

अलीगढ़ विश्वविद्यालय से कृषि विज्ञान में डॉक्टरेट डॉ. सौरभ की जीवन-यात्रा कम संघर्षपूर्ण नहीं रही है। जब छोटी थीं, तो पिता कामेश्वर सिंह एक सामंत की हत्या के आरोप में 1980 में जेल चले गए। नवादा जिले के चांदो सिंह हत्याकांड नाम से जानी जानेवाली इस घटना में डॉ. सौरभ के अनुसार यूं तो सामंत से त्रस्त जनता ने यह 'कार्रवाई' की थी, लेकिन न्यायालय ने उनके पिता को फांसी की सजा दे दी। बाद में सुप्रीम कोर्ट ने फांसी की सजा समाप्त कर दी। पिता की अनुपस्थिति में उनके परिवार की देखभाल उनके यहां काम करनेवाले मुसहर जाति के श्रमिक ने की। वे बताती हैं ''मैं कुशवाहा (ओबीसी) परिवार में पैदा हुई, लेकिन मैं खुद को अपने पालक दलित पिता की बेटी मानती हूं, जिन्होंने मजदूरी करके मुझे, मेरी बहन और मेरी मां का ख्याल रखा, पढ़ाया-लिखाया।''

नवादा से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद घर की आर्थिक रूप से कमजोर हालत के कारण वे सिलाई सीखकर उसी से संबंधित काम करने लगीं। मैट्रिक की पढ़ाई उन्होंने कृषि विज्ञान केंद्र, नवादा से की। 1992 में 'बिहार सेवा संस्थान' से जुड़ीं और आगे की पढ़ाई के लिए प्रेरित हुईं। उसके बाद गया से कॉलेज की पढ़ाई की और अलीगढ़ से 'रूरल एग्रीकल्चर एंड मार्केटिंग' विषय पर डॉक्टरेट किया।

पढ़ाई के बाद डॉ. सौरभ अपने जिले में आकर सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में काम करने लगीं। लोगों के बीच कृषि-संबंधी जानकारियां देने के अलावा वर्चस्वशाली संस्कृति के खिलाफ सामाजिक रूप से सक्रिय हो गई। वे बताती हैं, ''मैंने बुद्ध को पढ़ा, डॉ. आंबेडकर को पढ़ा और बहुजनों के खिलाफ मायाजाल को समझ सकी।'' वे कहती हैं ''नवादा सहित मगध के कई जिलों में बौद्ध मठों, मंदिरों पर कब्जा किया जा रहा है। बौद्ध मूर्तियों को तेल, सिंदूर लगाकर हिंदू नाम दिया जा रहा है। यह प्रत्यक्ष सांस्कृतिक गुंडागर्दी है, जिसके खिलाफ हम भी जनजागृति कर रहे हैं।''

जारी रहेगा महिलाओं के लिए संघर्ष

इतने विद्रोही तेवर की महिला को सरकार ने कैसे सम्मानित किया, इस सवाल पर वे कहती हैं कि दरअसल कृषि विज्ञान केंद्र, नवादा ने अपने यहां से सक्सेस स्टोरी के तौर पर उनका नाम आगे बढ़ाया। वे कहती हैं, ''सरकार क्या सिर्फ ब्राह्मणवादियों की है? कोई मंत्री ब्राह्मणवादी हो सकता/सकती है, लेकिन संविधान ब्राह्मणवाद या किसी भी समूह या व्यक्ति के वर्चस्व के खिलाफ है। संविधान वैज्ञानिक चेतना के लिए प्रतिबद्ध है।'' डॉ. सौरभ ने सम्मान राशि के रूप में मिले एक लाख रूपये को जिले की महिलाओं के विकास के लिए स्थानीय प्रशासन को दे दिया। वे कहती हैं, ''यह सम्मान मुझे नहीं बल्कि उन तमाम दबी-कुचली महिलाओं को मिला है, जो आज हमारे प्रयास से समाज की मुख्यधारा से जुड़ कर आम लोगों के लिए प्रेरणास्रोत बन कर काम कर रही हैं।'' उन्होंने कहा कि मुझे विश्वास हो गया है कि काम करने से सम्मान जरूर मिलता है। डॉ. सौरभ कहती हैं, ''महिलाओं के उत्थान और जातिविहीन समाज का निर्माण मेरे जीवन का लक्ष्य है।''

महाप्रतापी महिषासुर की वंशज सुषमा

अश्विनी कुमार पंकज

विजयादशमी, दशहरा या नवरात्रि का हिंदू धार्मिक उत्सव, 'असुर' राजा महिषासुर व उसके अनुयायियों के आर्यों द्वारा वध और सामूहिक नरसंहार का अनुष्ठान है। समूचा वैदिक साहित्य सुर-असुर या देव-दानवों के युद्ध वर्णनों से भरा पड़ा है। लेकिन सच क्या है? असुर कौन हैं और भारतीय सभ्यता, संस्कृति और समाज-व्यवस्था के विकास में उनकी क्या भूमिका रही है?

इस दशहरा पर आइए, मैं आपका परिचय असुर वंश की एक युवती से करवाता हूं। सदियों से चले आ रहे असुरों के खिलाफ हिंसक रक्तपात के बावजूद आज भी झारखंड और छत्तीसगढ़ के कुछ इलाकों में 'असुरों' का अस्तित्त्व बचा हुआ है। ये असुर कहीं से हिंदू धर्मग्रंथों में वर्णित 'राक्षस' जैसे नहीं हैं। हमारी और आपकी तरह इंसान हैं, परंतु 21वीं सदी के भारत में भी असुरों के प्रति न तो नजरिया बदला है और न ही उनके खिलाफ हमले बंद हुए हैं। शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदि जीवन-समाज के सभी अंगों में 'राक्षसों' के खिलाफ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण का ही वर्चस्व है।

भारत सरकार ने भी 'असुर' को आदिम जनजाति की श्रेणी में रखा है, अर्थात् आदिवासियों में भी प्राचीन।

घने जंगलों के बीच ऊंचाई पर बसे नेतरहाट पठार पर रहनेवाली सुषमा इसी 'आदिम जनजाति असुर समुदाय' से आती हैं। सुषमा गांव सखुआपानी (डुम्बरपाट), पंचायत गुरदारी, प्रखण्ड बिशुनपुर, जिला गुमला (झारखंड) की रहनेवाली हैं। वह अपने आदिम आदिवासी समुदाय असुर समाज की पहली रचनाकार हैं। यह साधारण बात नहीं है, क्योंकि वह उस असुर समुदाय से आती हैं, जिसका लिखित अक्षरों से हाल ही में रिश्ता कायम हुआ है। सुषमा इंटर पास हैं, पर अपने समुदाय के अस्तित्त्व के संकट को वह बखूबी पहचानती हैं। झारखंड का नेतरहाट, जो एक बेहद खूबसूरत प्राकृतिक रहवास है असुर आदिवासियों का, वह बिड़ला के बॉक्साइट दोहन के

कारण लगातार बदरंग हो रहा है। आदिम जनजातियों के लिए केंद्र और झारखंड की राज्य सरकारों द्वारा आदिम जनजाति के लिए चलाए जा रहे विशेष कल्याणकारी कार्यक्रमों और बिड़ला के खनन उद्योग के बावजूद असुर आदिम आदिवासी समुदाय विकास के हाशिए पर हैं। वे अघोषित और अदृश्य युद्धों में लगातार मारे जा रहे हैं। वर्ष 1981 में झारखंड में असुरों की जनसंख्या 9100 थी, जो वर्ष 2003 में घटकर 7793 रह गई है, जबकि आज की तारीख में छत्तीसगढ़ में असुरों की कुल आबादी महज 305 है। वैसे छत्तीसगढ़ के अगरिया आदिवासी समुदाय को वेरियर एल्विन ने असुर ही माना है, क्योंकि असुर और अगरिया दोनों ही समुदाय प्राचीन धातुवैज्ञानिक हैं, जिनका परंपरागत पेशा लोहे का शोधन रहा है। आज के भारत का समूचा लोहा और स्टील उद्योग असुरों के ही ज्ञान के आधार पर विकसित हुआ है, लेकिन उनकी दुनिया के औद्योगिक विकास की सबसे बड़ी कीमत भी इन्होंने ही चुकाई है। 1872 में जब देश में पहली जनगणना हुई थी, तब जिन 18 जनजातियों को मूल आदिवासी श्रेणी में रखा गया था, उसमें असुर आदिवासी पहले नंबर पर थे, लेकिन पिछले डेढ़ सौ सालों में इस आदिवासी समुदाय को लगातार पीछे ही धकेला गया है।

झारखंड और छत्तीसगढ़ के अलावा पश्चिम बंगाल के तराई इलाके में भी कुछ संख्या में असुर समुदाय रहता है। वहां के असुर बच्चे मिट्टी से बने शेर के खिलौनों से खेलते तो हैं, लेकिन उनके सिर काटकर। क्योंकि उनका विश्वास है कि शेर उस दुर्गा की सवारी है, जिसने उनके पुरखों का नरसंहार किया था।

बीबीसी की एक रपट में जलपाईगुड़ी जिले में स्थित अलीपुरदुआर के पास माझेरडाबरी चाय बागान में रहने वाले दहारू असुर कहते हैं, ''महिषासुर दोनों लोकों, यानी स्वर्ग और पृथ्वी पर सबसे ज्यादा ताकतवर थे। देवताओं को लगता था कि अगर महिषासुर लंबे समय तक जीवित रहा तो लोग देवताओं की पूजा करना छोड़ देंगे। इसलिए उन सबने मिलकर धोखे से उसे मार डाला। महिषासुर के मारे जाने के बाद ही हमारे पूर्वजों ने देवताओं की पूजा बंद कर दी थी। हम अब भी उसी परंपरा का पालन कर रहे हैं।''

सुषमा असुर भी झारखंड में यही सवाल उठाती हैं। वह कहती हैं, 'मैंने स्कूल की किताबों में पढ़ा है कि हम लोग राक्षस हैं और हमारे पूर्वज लोगों को सताने, लूटने, मारने का काम करते थे। इसीलिए देवताओं ने असुरों का संहार किया। हमारे पूर्वजों की सामूहिक हत्याएं की। हमारे समुदाय का नरसंहार किया। हमारे नरंसहारों के विजय की स्मृति में ही मनुवादी लोग दशहरा जैसे त्योहारों को मनाते हैं, जबकि मैंने बचपन से देखा और महसूसा है कि हमने किसी का कुछ नहीं लूटा। उलटे वे ही लूट-मार कर रहे हैं। बिड़ला हो, सरकार हो या फिर बाहरी समाज हो, इन सभी लोगों ने हमारे इलाकों में आकर हमारा सबकुछ लूटा और लूट रहे हैं। हमें अपने जल, जंगल, जमीन

ही नहीं, बल्कि हमारी भाषा-संस्कृति से भी हर रोज विस्थापित किया जा रहा है, तो आप लोग सोचिए राक्षस कौन है?'

यहां यह जानना भी प्रासंगिक होगा कि भारत के अधिकांश आदिवासी समुदाय 'रावण' को अपना वंशज मानते हैं। दक्षिण के अनेक द्रविड़ समुदायों में रावण की आराधना का प्रचलन है। बंगाल, ओड़िशा, असम और झारखंड के आदिवासियों में सबसे बड़ा आदिवासी समुदाय 'संताल' भी स्वयं को रावण का वंशज घोषित करता है। झारखंड-बंगाल के सीमावर्ती इलाके में तो बाकायदा नवरात्रि या दशहरा के समय ही 'रावणोत्सव' का आयोजन होता है। यही नहीं संताल लोग आज भी अपने बच्चों का नाम 'रावण' रखते हैं। झारखंड में जब 2008 में यूनाइटेड प्रोग्रेसिव एलायंस (यूपीए) की सरकार बनी थी, संताल आदिवासी समुदाय के शिबू सोरेन, जो उस वक्त झारखंड के मुख्यमंत्री थे, उन्होंने रावण को 'महान विद्वान' और अपना 'कुलगुरु' बताते हुए दशहरे के दौरान रावण का पुतला जलाने से इंकार कर दिया था। मुख्यमंत्री रहते हुए सोरेन ने कहा था कि कोई व्यक्ति अपने कुलगुरु को कैसे जला सकता है, जिसकी वह पूजा करता है? गौरतलब है कि रांची के मोरहाबादी मैदान में पंजाबी और हिंदू बिरादरी संगठन द्वारा आयोजित विजयादशमी त्योहार के दिन मुख्यमंत्री द्वारा ही रावण के पुतले को जलाने की परंपरा है। भारत में आदिवासियों के सबसे बड़े बुद्धिजीवी और अंतरराष्ट्रीय स्तर के विद्वान दिवंगत डॉ. रामदयाल मुण्डा का भी यही मत था।

ऐसा नहीं है कि सिर्फ आदिवासी समुदाय और दक्षिण भारत के द्रविड़ लोग ही रावण को अपना वंशज मानते हैं, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बदायूं के मोहल्ला साहूकारा में भी सालों पुराना रावण का एक मंदिर है, जहां उसकी प्रतिमा भगवान शिव से बड़ी है और जहां दशहरा 'शोक दिवस' के रूप में मनाया जाता है। इसी तरह इंदौर में रावण प्रेमियों का एक संगठन है, लंकेश मित्र मंडल। राजस्थान के जोधपुर में गोधा एवं श्रीमाली समाज वहां के रावण मंदिर में प्रति वर्ष दशानन श्राद्ध कर्म का आयोजन करते हैं और दशहरे पर सूतक मानते हैं। गोधा एवं श्रीमाली समाज का मानना है कि रावण उनके पुरखे थे व उनकी रानी मंदोदरी यहीं के मंडोर की थीं।

सुषमा असुर पिछले वर्ष बंगाल में संताली समुदाय द्वारा आयोजित 'रावणोत्सव' में बतौर मुख्य अतिथि शामिल हुई थीं। अभी बहुत सारे लोग हमारे संगठन 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' को अप्रोच करते हैं, सुषमा असुर को देखने, बुलाने और जानने के लिए। सुषमा दलित-आदिवासी और पिछड़े समुदायों के इसी सांस्कृतिक संगठन से जुड़ी हुई है। कई जगहों पर जा चुकी और नए निमंत्रणों पर सुषमा कहती हैं, 'मुझे आश्चर्य होता है कि पढ़ा-लिखा समाज और देश अभी भी हम असुरों को 'कई सिरों', 'बड़े-बड़े दांतों-नाखूनों' और 'छल-कपट जादू जानने' वाला जैसा ही राक्षस मानता है। लोग मुझमें 'राक्षस' ढूंढते हैं, पर उन्हें निराशा हाथ लगती है। बड़ी

मुश्किल से वे स्वीकार कर पाते हैं कि मैं भी उन्हीं की तरह एक इंसान हूं। हमारे प्रति यह भेदभाव और शोषण-उत्पीड़न का रवैया बंद होना चाहिए। अगर समाज हमें इंसान मानता है तो उसे अपने सारे धार्मिक पूर्वाग्रहों को तत्काल छोड़ना होगा और सार्वजनिक अपमान व नस्लीय संहार के उत्सव 'विजयादशमी' को राष्ट्रीय शर्म के दिन के रूप में बदलना होगा।

(फारवर्ड प्रेस, अक्तूबर, 2012)

दुर्गा, महिषासुर व जाति की राजनीति

राम पुनियानी

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय पर हालिया हल्ले ने भारतीय पौराणिकता और उसकी व्याख्या से जुड़े एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे को राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत किया है। अपनी सरकार की कार्रवाई का बचाव करते हुए केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी ने कहा कि जेएनयू, राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों का अड्डा बन गया है। उन्होंने यह भी कहा कि जेएनयू के दलित व ओबीसी विद्यार्थियों के कुछ समूह, 'महिषासुर शहादत दिवस' का आयोजन कर रहे हैं और आरोप लगाया कि इन विद्यार्थियों ने एक पर्चा जारी किया था, जिसमें देवी दुर्गा के बारे में कई अपमानजनक बातें कही गई थीं। कई लोग देवी दुर्गा की महिषासुरमर्दिनी के रूप में पूजा करते हैं।

महिषासुर, जिसे आमतौर पर राक्षस बताया जाता है, के वध की कई अलग-अलग व्याख्याएं की जाती रही हैं। इस मुद्दे के चर्चा में आने के कुछ वर्ष पहले, देवी दुर्गा के संबंध में एक अन्य विवाद भी खड़ा हुआ था। संसद में एक सदस्य ने इस बात पर आपत्ति प्रगट की कि इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की एक पुस्तक में कहा गया है, कि देवी दुर्गा मदिरा का सेवन करती थीं। उत्तर में तत्कालीन केंद्रीय मंत्री प्रणब मुखर्जी ने 'चंडीपाठ' के एक श्लोक को उद्धृत किया, जिसमें यह बताया गया है कि किस तरह ''देवी ने युद्ध के बीच में एक बार और फिर, और फिर मदिरा का सेवन किया और किस प्रकार उनके नेत्र रक्तमय हो गए, उदित होते सूर्य की किरणों की तरह।''

'फारवर्ड प्रेस' पत्रिका के अक्टूबर 2014 अंक में महिषासुर-दुर्गा कथा की बहुजन व्याख्या के संबंध में कई लेख प्रकाशित किए गए। पुलिस ने इस अंक की प्रतियां ज़ब्त कर ली थीं, क्योंकि कुछ लोगों ने यह शिकायत की थी कि पत्रिका में प्रकाशित लेख, ब्राह्मणों और ओबीसी के बीच शत्रुता उत्पन्न करनेवाले हैं। यह मामला अभी न्यायालय में विचाराधीन है। आज जिस स्वरूप में दुर्गा पूजा मनाई जाती है, उसकी शुरूआत महज 260 साल पहले, 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद लार्ड क्लाइव के सम्मान में कलकत्ता के जमींदार नवाब कृष्णदेव ने की थी। इस प्रकार, यह त्योहार न सिर्फ नया है, बल्कि इसके उत्स में मुसलमानों का विरोध और

साम्राज्यवाद-परस्ती भी छुपी हुई है।

यद्यपि कई समुदाय लंबे समय से महिषासुर की अभ्यर्थना करते आए हैं, परंतु महिषासुर शहादत दिवस का आयोजन कुछ ही वर्ष पहले शुरू हुआ। सन 2011 में विद्यार्थियों के एक समूह ने जेएनयू में इसका आयोजन किया। बाद में, उदित राज, जो अब भाजपा सांसद हैं, ने भी ऐसे ही एक कार्यक्रम में शिरकत की। हमें अब यह पता चल रहा है कि देश के विभिन्न हिस्सों, विशेषकर बंगाल में कई आदिवासी समुदाय, सदियों से महिषासुर को पूजते आए हैं। पिछले वर्ष महिषासुर के सम्मान में लगभग 300 कार्यक्रम देशभर में आयोजित हुए। 'फारवर्ड प्रेस' व अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित अपने लेखों में कई बहुजन अध्येताओं ने यह तर्क दिया कि महिषासुर वध को त्योहार के रूप में मनाया जाना दो कारणों से अनुचित है : पहला, यह मृत्यु का जश्न मनाना है और दूसरा, यह महिषासुर के चरित्र की ब्राह्मणवादी व्याख्या को स्वीकार करना है। ब्राह्मणवादी व्याख्या के अनुसार, महिषासुर एक राक्षस था, जबकि अन्य का कहना है कि वह आदिवासियों का राजा था।

पौराणिक ग्रंथों की व्याख्या आसान नहीं है। इनमें वर्णित घटनाओं को इतिहासविद् सत्य की कसौटी पर नहीं कस सकते, क्योंकि संभव है कि ये घटनाएं प्रागैतिहासिक काल में हुई हों। अधिकतर लोग यह मानते हैं कि देवी ने राक्षस का वध किया था और इसलिए इस दिन को बुराई पर अच्छाई की विजय के रूप में मनाया जाता है। इस कथा के अनुसार, चूंकि दानव को हराना आसान नहीं था, इसलिए ब्रह्मा, विष्णु व महेश ने अपनी संपूर्ण शक्तियों का प्रयोग कर आलौकिक शक्तियों से लैस दुर्गा का सृजन किया। इस कथा में यह भी बताया गया है कि दानवराज आधा मनुष्य और आधा भैंसा था।

ईरानी ने जिस तथाकथित पर्चे को संसद में पढ़ा, उसके अनुसार, दुर्गा एक वेश्या थी, जिसे महिषासुर का वध करने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। उसने नौ रातों तक महिषासुर के साथ प्रणयक्रीड़ा की और फिर जब वह सो रहा था, तब उसे मार डाला। हम सबको यह पता है कि मैसूर नगर का नाम महिषासुर पर रखा गया है। एक मित्र ने मेरा ध्यान तैयब मेहता की 'काली' शृंखला की पेंटिंग्स की ओर आकर्षित किया, जिसमें देवी को महिषासुर के आलिंगन में दिखाया गया है। यह पेंटिंग बहुत बड़ी कीमत पर बिकी।

देवी दुर्गा का वर्णन सबसे पहले मार्कण्डेय पुराण में मिलता है, जिसका काल 250 से 500 ईस्वी बताया जाता है। यह सही है कि आमजन इस त्योहार को उसी रूप में मनाते हैं, जैसा कि ईरानी ने बताया, परंतु यह इस कथा का ब्राह्मणवादी व वर्चस्ववादी संस्करण है। यह बात कम ही लोग जानते हैं, कि कई समुदाय इसी दिन को महिषासुर दिवस के रूप में भी मनाते हैं। यह तथ्य तथाकथित मुख्यधारा का भाग हाल में तब बना जब जेएनयू में यह दिवस मनाया गया और 'फारवर्ड प्रेस' पत्रिका ने इस विषय पर काफी कुछ लिखा। यहां मैं यह जोड़ना चाहूंगा कि वर्चस्वशाली विमर्श

हमेशा वर्चस्वशाली जातियों/वर्गों द्वारा निर्मित व प्रायोजित होता है।

लोकमान्यता यही है कि यह अच्छाई और बुराई, ईश्वर और असुरों के बीच संघर्ष था। इस त्योहार की यह व्याख्या आर्यों के भारत में आगमन को एक शुभ घटना बताती है। एक अन्य व्याख्या ज्योतिबा फुले ने प्रस्तुत की थी। उन्होंने ब्राह्मणवादी व्याख्या के ठीक उलट यह कहा कि आर्य भट्ट-ब्राह्मणों ने भारत पर आक्रमण कर और मूल निवासी आदिवासियों को छल-बल से पराजित किया। यह व्याख्या उस सामाजिक परिवर्तन के साथ उभरी, जिसका आगाज पददलित वर्गों द्वारा अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष शुरू करने से हुआ। इसी तरह, राम-रावण कथा की भी पुनर्व्याख्या की जा रही है।

जहां हिंदुत्व की राजनीति, भगवान राम पर केंद्रित है, वहीं राम की आंबेडकर व पेरियार दोनों ने कटु आलोचना की है। आंबेडकर, राम के लोकप्रिय राजा बाली की पीछे से तीर मारकर हत्या करने को अनैतिक बताते हैं। बाली के शासन में गैर-ब्राह्मणजन प्रसन्न और समृद्ध थे और राजा बाली को आज भी पूजा जाता है। भगवान राम द्वारा शंबूक की केवल इसलिए हत्या किया जाना, क्योंकि वह तपस्या कर रहा था, जो शूद्रों के लिए निषिद्ध थी, भी समाज पर अपना वर्चस्व कायम रखने के ब्राह्मणवादी अभियान का हिस्सा है। राम द्वारा अपनी गर्भवती पत्नी सीता को घर से निकालना किसी भी तरह से क्षम्य नहीं है। इस प्रकार, राम-रावण की कहानी के जातिगत, नस्लीय व लैंगिक आयाम भी हैं।

ईरानी-भाजपा-आरएसएस, सबाल्टर्न कथाओं के उभार को समाज पर ऊँची जातियों/उच्च वर्ग का वर्चस्व स्थापित करने के अपने अभियान के लिए खतरा मानते हैं। बहुलतावाद उन्हें पसंद नहीं है और यही कारण है कि ईरानी ने संसद में दुर्गा-महिषासुर कथा की एक भिन्न व्याख्या को राष्ट्र-विरोधी और अवांछनीय बताया।

(अंग्रेजी से अनुवाद : अमरीश हरदेनिया)

मैं दुर्गा पूजा क्यों नहीं मनाता

ध्रुबो ज्योति

अधिकांश बंगालियों की तरह मैं भी दुर्गा पूजा के साथ पला-बढ़ा। मेरे लिए भी दुर्गा पूजा जीवन का अभिन्न हिस्सा थी। बचपन में हमारे पास खाने-कपड़े पर्याप्त नहीं होते थे और मेरे लिए दुर्गा पूजा का मतलब था, नए कपड़े और खाने की तरह-तरह की चीजें। एक बात और, मेरी मां इन पांचों दिन बहुत सोच-समझ कर पैसे खर्च करने की अपनी आदत छोड़ देती थीं। जब भी हम किसी नये शहर में रहने जाते, पूजा पंडालों का पता लगाते, भोग के लिए बंगाली अंकलों के टपक पड़ने वाले प्रश्नों से शिष्टतापूर्वक बचते हुए, ज्यादा-से-ज्यादा मूर्तियां देखने की होड़ में उत्तेजित रहते। मैं मोटा-सा, शर्मीला बच्चा था और मेरे दोस्तों की संख्या बहुत कम थी। मैं और मेरी मां एक-दूसरे के साथी थे। तलाक के धक्के से थकी-हारी होने के कारण उन्हें जो व्यंग्यबाण झेलने पड़ते थे, उनसे मुकाबला करने में राक्षस का वध करती देवी कुछ अजीब साहस से अनुप्राणित कर देती थी। उन्हें तम्बोला में आमंत्रित नहीं किया जाता और मैं बच्चों की उन जमातों में शामिल नहीं था, जो पूजो के समय पूरी रात मस्ती किया करते थे। अपने-अपने ढंग से हम दोनों अकेले थे और हमें एक-दूसरे का साथी बनते देर नहीं लगी : मां दुर्गा तो हमारे साथ थीं ही।

जब मैं कोलकाता में रहने आया तो पूजो के दिन, मेरे दुर्लभ अतिभोग के लिए पूरा शहर मानो आमोद-प्रमोद का मैदान-सा बन जाता था। अपने जीवन के बीसवें दशक के शुरुआती सालों में, मैं पूरी-पूरी रात एक पंडाल से दूसरे पंडाल का चक्कर लगाता रहता था। मेरे पास शहर के प्रसिद्ध पूजास्थलों की सूची रहती थी। जिस पंडाल को मैं देख लेता, रोमांचित हो उन प्रसिद्ध पूजो के नाम के आगे सही का निशान लगा देता। पूरी रात गलियों में पैदल भटकने की सजा के बाद, थकान से चूर, भोर होते ही मैं कहीं नाश्ता करने की जुगाड़ करने में जुट जाता।

इस भागमभाग में सोचने-विचारने के लिए समय ही नहीं होता था। पूजो के समय कोलकाता सुंदर लगता है और एक पंडाल से दूसरे पंडाल भागते बंगाली इसकी किसी प्रकार की समालोचना मानने के मूड में नहीं रहते हैं।

कोलकत्ता में रेस्त्रां जाने में भी वर्गीय पूर्वाग्रह बजबजाता है, लेकिन दुर्गा पूजो

के समय गरीबों की भी उत्सव में भागीदारी का उल्लेख किया जाता है जिसका उद्देश्य इस उत्सवी माहौल को पूर्णता प्रदान करना होता है। अधिकांश बंगाली पूजो की किसी भी तरह की आलोचना को अधार्मिक रंग देकर दरकिनार कर देते हैं कि इस उत्सव का किसी धर्म से कोई लेनादेना नहीं है। हमसे कहा जाता है कि यह पूजो हिन्दू धर्म का नहीं, बल्कि मस्ती का त्यौहार है और मस्ती करने से भला किसे इनकार हो सकता है। यह सब कहने-सुनने में तो बहुत अच्छा लगता है परन्तु यह सच नहीं है। जो भी दुनिया में कहीं भी किसी भी पूजा पंडाल में गया है, वह यह जानता है कि वहां जो कुछ भी होता है, उसका निर्धारण धर्मग्रन्थ ही करते हैं– चाहे वह आरती का समय हो, लोगों का पहनावा या भोग के व्यंजन या पूजा संचालन का तरीका। पुरोहित हमेशा ब्राह्मण होता है और व्यवस्थाओं की बागडोर, वर्चस्वशाली जातियों के विवाहित लोगों के हाथों में होती है।

दुर्गा को एक स्त्रीवादी प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है : एक ऐसी रक्षक मां के रूप में, जो अपने 9 करोड़ बंगाली पुत्र-पुत्रियों की खातिर राक्षसों का संहार करती है। राज्य की मातृपूजक संस्कृति ने देवी को एक लाक्षणिक निहितार्थ दे दिया है और यह संस्कृति हर महिला और फिल्म अभिनेत्री में दुर्गा को ढूंढती है और यहां तक कि दुर्गा, होर्डिंगों में मैरी बिस्कुट बेचती नज़र आती हैं।

लेकिन असल बात यह है कि दुर्गा हर महिला का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं और इस दौरान होने वाली पूजा में कुछ लोगों के बहिष्कार और लैंगिक भेदभाव पर आधारित अनुष्ठानों की भरमार है। इनमें से एक है सिन्दूर खेला– जिसे विद्या बालन ने 'कहानी' में प्रसिद्ध कर दिया है– और जिसमें केवल विवाहित (और ऊंची जातियों की) महिलाएं ही भाग ले सकती हैं।

मेरी मां आपको बतायेंगी कि यहां होने वाली पूजो एक युद्धक्षेत्र है, जिसमें उन वर्गों का प्रवेश रोकने के लिए मोर्चाबंदी रहती है, जिन्हें बंगाली भद्रलोक पसंद नहीं करता यथा अविवाहित, तलाकशुदा और गरीब। छोटी-छोटी रस्में, जिनमें फल काटना, भोग तैयार करना, उसे परोसना और पुरोहित का साथ करने जैसे विविध क्रिया-कलाप-वर्चस्व कायम करने के औजार हैं। इस सब के बावजूद हम पूरे उत्सव को केवल मस्ती और हानिरहित आनंद के मौके के रूप में देखते हैं तो उसका कारण है सामूहिक जुनून।

परन्तु इस त्योहार के जिस पक्ष से सहमत होना सबसे कठिन वह है जिसके लिये यह त्योहार है : पाप और दुष्टता के प्रतीक नीले-हरे महिषासुर की हत्या। पूजा के पीछे पागल बंगालियों के दिमाग में महिषासुर के लिए इतनी कम जगह होती है कि अब तो मूर्तिकारों ने भी इस विरोधी तथाकथित दानव को मनुष्य के आकार से भी छोटा बनाना शुरू कर दिया है।

महिषासुर कोई साधारण विरोधी नहीं हैं। उन्हें एक ऐसे आदिवासी राजा के रूप

में देखा जाता है, जो विरोधी पक्ष की एक स्त्री के हाथों मारे गए और झारखण्ड व पश्चिम बंगाल में असुर नामक एक जनजाति समूह आज भी अपने इस न्यायप्रिय राजा को सम्मान से याद करता है।

भारत के दलितों और आदिवासियों की याद्दाश्त में दुर्गा पूजा उनके राजा की हत्या और एक विदेशी शक्ति द्वारा उनकी धरती पर कब्ज़ा जमाने का भौंडा जश्न है। हम कोशिश करके हिंसा की इस याद पर लोकप्रिय-स्त्रीवाद का मुलम्मा चढ़ा सकते हैं परन्तु इससे यह याद मिटने वाली नहीं है।

हर साल देश के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग समुदायों के हजारों आदिवासी महिषासुर को याद करते हैं और उनकी आराधना करते हैं। कई दुर्गा पूजा के अवसर अपने घर के अन्दर बंद हो जाते हैं ताकि उन्हें उस यंत्रणा से न गुजरना पड़े, जिससे उनके पूर्वजों को गुजरना पड़ा था। परन्तु ये वैकल्पिक आख्यान बंगाल की पूजा के अधार्मिक आयोजकों के कानों तक नहीं पहुंचते।

पिछले कुछ सालों से मैंने हिंसा के इस इतिहास और इसके आमने-सामने खड़े पूजो के अनुष्ठानों, जो मेरी ज़िन्दगी को घेरे हैं, के बीच तालमेल बिठाने की कोशिश की है। पूजो के वर्चस्वशाली जातियों की परियोजना के रूप में ही उसका मर्दवादी लैंगिक चरित्र उभरा है। जाति और पितृसत्तात्मकता के परस्पर संबंधों से हम में से कौन वाकिफ़ नहीं है? और यही हमें यह भी बताता है कि महज दो सदियों पहले तक, मुख्यतः धनी ज़मींदारों द्वारा मनाया जाने वाला यह त्यौहार, क्यों और कैसे इस क्षेत्र की संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक बन गया।

इसी रूप में दुर्गा पूजा, कमज़ोर वर्गों के खिलाफ वर्चस्वशाली समूहों की लंबे समय से चली आ रही हिंसा के प्रवाह का प्रतिनिधित्व करती है - वह गुलामी को औचित्यपूर्ण ठहराती है।

इस वर्ष, जब मेरे कुछ करीबी मित्रों ने मुझे पुष्पांजली में भाग लेने के लिये बुलाया तो मैं कुछ हिचकिचाया। आखिर यह कैसे संभव है कि कोई उस देवी की पूजा तो करे जिसने अपनी तलवार आदिवासियों के राजा के सीने के आर-पार कर दी मगर कमज़ोर वर्गों के खिलाफ सदियों की हिंसा का समर्थन न करे? आखिर हम आदिवासियों के खिलाफ रोज़ होने वाले अत्याचारों को कैसे भुला सकते हैं? हम यह कैसे भुला सकते हैं कि आधुनिकीकरण के उन्मत्त भगवान ने कैसे उन्हें उनकी रोज़ी-रोटी और घरबार से वंचित किया है? आप आखिर हत्या के जश्न में कैसे शामिल हो सकते हैं?

मैंने अपने दोस्तों को कुछ बहाना बना दिया और पुष्पांजली के लिए काफी देरी से पहुंचा। मुझे लगता है कि यह मेरी आखिरी दुर्गा पूजा होगी। आदिवासियों की हत्या का संस्कृति के नाम पर महिमामंडन होने देना आज बंद होता है।

(हिन्दुस्तान टाइम्स, 10 अक्टूबर, 2016, अंग्रेजी से अनुवाद : अमरीश हरदेनिया)

महिषासुर दिवस से संबंधित तथ्य

किस दिन?

महिषासुर शहादत दिवस शरद (आश्विन) पूर्णिमा को मनाया जाना चाहिए। आश्विन पूर्णिमा दशहरा के ठीक पांच दिन बाद आती है।

इसे 'महिषासुर स्मरण दिवस' भी कहा जाता है। अनेक आदिवासी जनश्रुतियों में से एक यह है कि विदेशी आक्रमणकर्ताओं द्वारा भेजी गई दुर्गा आश्विन मास के 16वें दिन (शुक्ल पक्ष का प्रथम दिन) को महिषासुर के पास पहुंचीं, जबकि देवतागण उनके दुर्ग के इर्द-गिर्द झाड़-झाड़ियों में अपने अस्त्र-शस्त्रों के साथ बहुत बुरी हालत में कंद-मूल खाकर छुपे रहे। इसके सातवें दिन रात में दुर्गा ने महिषासुर के दुर्ग का द्वार (पट) खोल दिया, ताकि आसपास छिपे देवता आक्रमण कर सकें। दो दिनों तक भयानक युद्ध हुआ। छलपूर्वक अचानक करवाए गए हमले के बावजूद महिषासुर व उनके गणों को हराना देवताओं के लिए संभव न था। इसलिए उन्होंने नौवें दिन फिर दुर्गा को आगे किया। महिषासुर की प्रतिज्ञा थी कि वे स्त्रियों और पशुओं का संरक्षण करेंगे। उनकी इस प्रतिज्ञा का लाभ दुर्गा को सामने कर देवताओं ने उठाया और अपने समय के प्रतापी सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक नेतृत्वकर्ता महिषासुर की हत्या कर दी तथा भयानक नरसंहार किया। इसी हत्या और नरसंहार के उपलक्ष्य में आश्विन मास के दसवें दिन 'दशहरा' का त्योहार आयोजित किया जाता है।

जनश्रुतियों के अनुसार महिषासुर के पराजित अनुयायियों ने इस घटना के पांच दिन बाद शरद पूर्णिमा को एक विशाल सभा की थी और अपनी संस्कृति को जीवित रखने व अपनी खोयी हुई संपदा को वापस लेने का संकल्प लिया। उसी सभा की निरंतरता को बरकरार रखते हुए 'महिषासुर शहादत दिवस' का आयोजन शरद पूर्णिमा को दिन अथवा रात में किया जाना चाहिए।

ज्ञातव्य है कि असुर-श्रमण-बहुजन परंपरा में शरद पूर्णिमा बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। कृष्ण की कथाओं में यह 'कौमुदी महोत्सव' का अवसर है, जबकि

बुद्ध के जीवनचरित में यह नई यात्रा की शुरुआत का दिन माना जाता है।

कैसे मनाएं?

महिषासुर शहादत दिवस के आयोजन के पिछले कुछ वर्षों में विकसित हुए तरीके निम्नांकित हैं :

1. महिषासुर शहादत दिवस में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने की कोशिश करनी चाहिए।

2. आयोजन सात दिवसीय होना चाहिए यानी महिषासुर की हत्या के दिन के बाद (आश्विन माह के 24वें दिन/ दशहरा की नवमी) से शरद पूर्णिमा के दिन तक यह चले। मुख्य आयोजन शरद पूर्णिमा के दिन हो, लेकिन जहां समय की कमी हो, वहां आयोजन एकदिवसीय हो और इसे शरद पूर्णिमा के दिन (दशहरा के ठीक पांच दिन बाद) मनाया जाए।

3. शहादत दिवस का आयोजन निजी स्तर पर परिवार अथवा मित्रों के साथ भी किया जा सकता है। आयोजन में प्रतीकात्मक तौर पर महिषासुर का एक बड़ा चित्र बनाकर माल्यार्पण किया जा सकता है, लेकिन 'मूर्तिपूजा' नहीं करनी चाहिए। कार्यक्रम को विचार गोष्ठी के रूप में आयोजित करना चाहिए। इस दौरान बिरसा मुंडा, जोतीराव फुले, नारायण गुरु, डॉ. आंबेडकर, पेरियार आदि से संबंधित साहित्य का वाचन किया जाना चाहिए।

4. अगर संभव हो तो आयोजन स्थल से दुर्गासप्तशती, मार्कण्डेय पुराण समेत विभिन्न ब्राह्मण पुराणों, स्मृतियों व बहुजन के प्रति अपमानजनक भाव रखने वाले अन्य धर्मग्रंथों की शवयात्रा निकाली जानी चाहिए। इस शवयात्रा की समाप्ति तथा शवदहन का कार्यक्रम संवैधानिक सत्ता केंद्रों (यथा, राज्यस्तरीय कार्यक्रम में राजधानी में स्थित विधानसभा सचिवालय, जिलास्तरीय आयोजन में समाहरणालय, प्रखंड-स्तरीय कार्यक्रम में प्रखंड कार्यालय तथा गांव-स्तरीय कार्यक्रम में पंचायत भवन के समक्ष अथवा ऐसी जगह न उपलब्ध होने की स्थिति में किसी अन्य सामुदायिक सार्वजनिक परिसर) में आयोजित किया जाना चाहिए। शवदहन, यथासंभव क्षेत्र की किसी सम्माननीय महिला के हाथों से हो।

5. अगर संभव हो तो, महिषासुर के नाम पर विभिन्न खेल व चित्रकला प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाए।

6. महिषासुर उत्सव के दौरान विभिन्न बहुजन जातियों द्वारा पारंपरिक तौर पर गाए जानेवाले श्रमगीतों (यथा, बिरहा, फरूवाही, कहरवा, जतसार व रोपनी-सोहनी के गीत आदि) का गायन हो।

7. संभव हो तो, विभिन्न बहुजन नायकों से संबंधित पारंपरिक गाथाओं का मंचन किया जाए तथा बहुजन दृष्टिकोण से सृजनात्मक लेखन कर सकने की क्षमता रखनेवाले युवक-युवतियों को इन विषयों पर नए नाटक, लेख आदि लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जाए व उनका मंचन किया जाए।

8. इन आयोजनों का फिल्मांकन किया जाए तथा नवीनतम संचार माध्यमों से इसका प्रसार किया जाए।

9. सर्वाधिक स्मरणीय यह है कि शहादत दिवस बहुजन समुदाय की एकता, अपनी संस्कृति की पुनर्स्थापना और अपनी खोयी हुई भौतिक संपदा की वापसी के लिए संकल्प लेने का कार्यक्रम हो। कार्यक्रम के दौरान होनेवाले संभाषण, नारे आदि इन्हीं विषयों पर केंद्रित हों।

10. आयोजन के संबंध में विभिन्न चरणों यथा आयोजन की योजना को लेकर बैठक, आयोजन के दौरान गतिविधियों के संबंध में सूचनायें स्थानीय अखबारों व न्यूज चैनलों के प्रतिनिधियों को दें।

[महिषासुर दिवस के आयोजकों से विचार-विमर्श कर तैयार की गई सलाह वर्ष 'महिषासुर' (2014) शीर्षक पुस्तिका में प्रकाशित की गई थी। इसे परिवर्धित रूप में 'महिषासुर : एक जननायक' (2016) पुस्तक में भी संकलित किया गया था। यहां यह पुनः संशोधित रूप में है। पूर्व प्रकाशित सामग्री में मूर्ति पूजा के निषेध इत्यादि बातें पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाई थीं, उन्हें यहां स्पष्ट कर दिया गया है - संपादक]

परिचय

संपादक

प्रमोद रंजन (जन्म : 22 फरवरी 1980)
आलोचक व पत्रकार प्रमोद रंजन ने मीडिया में सामाजिक जनतंत्र के विकास, बहुजन साहित्य की अवधारणा तथा बहुजन संस्कृति के निर्माण से संबंधित विपुल लेखन किया है। वे दैनिक भास्कर, अमर उजाला, प्रभात खबर समेत कई हिंदी समाचार पत्रों से संबद्ध रहे हैं तथा भारतेंदु शिखर, ग्राम परिवेश (शिमला), जन विकल्प (पटना), फारवर्ड प्रेस (दिल्ली) समेत अनेक साहित्यिक-वैचारिक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया है। श्री रंजन ने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से 'अद्विज हिंदी कथाकारों के उपन्यासों में जाति मुक्ति का सवाल' विषय पर पीएचडी की है। *हिंदी साहित्येतिहास का बहुजन पक्ष, बहुजन साहित्य की प्रस्तावना, महिषासुर : एक जननायक, महिषासुर : मिथक व परंपराएं तथा पेरियार के प्रतिनिधि विचार* उनके द्वारा संपादित पुस्तकें हैं। **संपर्क :** *janvikalp@gmail.com*

लेखक

प्रेमकुमार मणि (जन्म : 25 जुलाई, 1953) : हिंदी के प्रतिनिधि कथाकार व चिंतक प्रेमकुमार मणि के चार कथा संकलन 'अंधेरे में अकेले' (1990), घास के गहने, (1993), खोज तथा अन्य कहानियां (2000), उपसंहार (2008) और एक उपन्यास 'ढलान' (2000) प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने साहित्य, संस्कृति तथा समसामयिक सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर भी विपुल लेखन किया है। उनके लेखों के तीन संग्रह 'खूनी खेल के इर्द-गिर्द' (2000), 'सच यही नहीं है' (2003) तथा 'चिंतन के जनसरोकार' (2016) भी प्रकाशित हैं। कथा लेखन के लिए श्रीकांत वर्मा पुरस्कार से सम्मानित मणि की पहचान उत्तर भारत के एक प्रमुख समाज-राजनीतिकर्मी के रूप में भी है। वे बिहार विधान परिषद् के सदस्य भी रहे हैं। संपर्क : manipk25@gmail.com

शिबू सोरेन (जन्म : 11 जनवरी, 1944) : दिसोम गुरु के नाम से चर्चित शिबू सोरेन झारखंड के मुख्यमंत्री रहे हैं। उन्होंने आदिवासी-बहुल झारखण्ड को बिहार से अलग राज्य बनाने के आंदोलन में अग्रणी भूमिका निभाई। संपर्क : shisorin@sansad.nic.in

मधुश्री मुखर्जी : भारत में जन्मीं मधुश्री मुखर्जी ने अमरीका में भौतिक शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। वे सात वर्षों तक 'साइंटिफिक अमेरिकन' के संपादक मंडल की

सदस्य रहीं। उनकी पहली पुस्तक 'द लैंड ऑफ नेकेड पीपुल : एनकाउंटर्स विथ स्टोन एज आईलेंडर्स' (2003) थी, जिसे उन्होंने यूग्नहाइम फेलोशिप की मदद से लिखा था। उनकी दूसरी पुस्तक 'चर्चिल्स सीक्रेट वार : द ब्रिटिश अम्पायर एण्ड द रेवेजिंग ऑफ इंडिया डयूरिंग वर्ल्ड वार टू' (2010) है। सम्प्रति मधुश्री जर्मनी में रहती हैं और अपनी तीसरी पुस्तक पर काम कर रही हैं, जो खनन के विरुद्ध मूलनिवासियों के संघर्ष और विकास के वर्तमान स्वरूप की समालोचना पर केंद्रित है। संपर्क : lopchu@madhusree.com

राजन कुमार (जन्म : 7 जुलाई, 1991) : आदिवासी मुद्दों पर कार्यरत युवा सामाजिक कार्यकर्ता व लेखक राजन कुमार एक पेशेवर ग्राफिक डिजायनर हैं तथा फारवर्ड प्रेस समेत अनेक पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े हैं। संपर्क : rajanapbrs@gmail.com

ब्रजरंजन मणि : ब्रजरंजन मणि की ताज़ा पुस्तक है 'नॉलेज एंड पॉवर : ए डिस्कोर्स फॉर ट्रांसफार्मेशन' (2014)। उनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'डीब्राह्मनाईजिंग हिस्ट्री' (2005) कई बार मुद्रित हो चुकी है और अब उसका पूर्णतः संशोधित संस्करण (2015) उपलब्ध है। वे इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी, शिमला के फेलो रहे हैं, वहां उनके शोध प्रबंध का शीर्षक था 'डॉ. आंबेडकर्स प्रीडेसेसर्स ऑन द पाथ टूवर्ड्स नवयान'। वैकल्पिक इतिहास, सामाजिक आंदोलन और ज्ञान के निर्माण और उसके प्रसार पर शोध में उन्हें विशेषज्ञता हासिल है। वे दिल्ली में रहते हैं और मानवाधिकार व शिक्षा के प्रजातांत्रिकरण के लिए काम कर रहे कई संगठनों और समूहों के सक्रिय सदस्य हैं। संपर्क : brajrmani@gmail.com

राजेंद्र प्रसाद सिंह (जन्म : 5 नवंबर, 1965) : भाषावैज्ञानिक राजेंद्र प्रसाद सिंह हिंदी में ओबीसी साहित्य की अवधारणा के प्रथम प्रस्तावक माने जाते हैं। 'भाषा का समाजशास्त्र', 'भारत में नाग परिवार की भाषाएं', 'हिंदी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास', 'हिंदी का अस्मितामूलक साहित्य व अस्मिताकार', 'ओबीसी साहित्य विमर्श', 'ओबीसी साहित्य के विविध आयाम' समेत उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'भोजपुरी-हिंदी-इंग्लिश लोक शब्दकोश' तथा 'पंचानवे भाषाओं का समेकित पर्याय कोश' की भी रचना की है। संप्रति वे जैन कॉलेज, सासाराम (बिहार) में प्राध्यापक हैं। संपर्क : rpsingh.ssm65@yahoo.in

गेल ऑम्बेट (जन्म : 2 अगस्त, 1941) : अमेरिका में जन्मीं भारतीय विद्वान व सामाजिक कार्यकर्ता गेल ऑम्बेट की जातिवाद विरोधी व दलित-बहुजन राजनीति पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं। वे भारतीय महिलाओं के अधिकारों के लिए भी विभिन्न

आंदोलनों में शामिल रही हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं - 'कल्चरल रिवॉल्ट इन ए कॉलोनियल सोसायटी : द नॉनब्राह्मन मूवमेंट इन महाराष्ट्र', 'वी शैल स्मैश दिस प्रिजन : इंडियन वीमेन इन स्ट्रगल', 'दलित विजंस : द एंटीकास्ट मूवमेंट एंड इंडियन कल्चरल आइडेंटिटी', 'बुद्धिज्म इन इंडिया : चैलेंजिंग ब्रैह्मनिज्म एंड कास्ट', 'आंबेडकर : टूवर्ड्स ऐन इनलाइटेंड इंडिया' और 'सीकिंग बेगमपुरा : द सोशल विजन ऑफ ऐंटीकास्ट इंटेलेक्चुअल्स'। संपर्क : gailomvedt@gmail.com

नूतन मालवी (जन्म : 28 दिसंबर, 1967) : कभी-कभार हिंदी में भी लिखने वाली मूलतः मराठी लेखिका नूतन मालवी सत्यशोधक महिला प्रबोधिनी की कार्यकर्ता हैं तथा जाति व महिला उत्पीड़न के खिलाफ विभिन्न आंदोलनों में निरंतर सक्रिय रही हैं। मराठी में उनकी 10 से अधिक किताबें प्रकाशित हैं, जिनमें 'विद्येची स्फूर्ति नायिका : सरस्वती कि सावित्री' ('विद्या की नायिका कौन, सरस्वती या सावित्री') और 'स्त्रियां देव काय मानता' (स्त्रियां देवताओं की पूजा क्यों करती हैं) प्रमुख हैं। संपर्क : nootan.malvi@gmail.com

अजय एस शेखर (जन्म : 1976) : कोट्टयम, केरल में जन्मे डॉ. अजय एस शेखर, एसएस विश्वविद्यालय, कलादी, केरल में अंग्रेजी के सहायक प्राध्यापक हैं। वे अंग्रेजी और मलयालम में लेखन कार्य करते हैं और इन दो भाषाओं में परस्पर अनुवाद भी। उनके आलोचनात्मक आलेख व अनूदित सामग्री 'ईपीडब्ल्यू' व 'इंडियन लिटरेचर' में प्रकाशित हैं। उनकी सद्यः रचनाओं में 'रीप्रेसेंटिंग द मार्जिन : कास्ट एंड जेंडर इन इंडियन फिक्शन' (2008) व 'सहोदरन अय्यपन : टुवर्ड्स ए डेमोक्रेटिक फ्यूचर' (2012) शामिल हैं। वे प्रथम आडियर दीपम पुरस्कार से सम्मानित हैं। उन्हें 2015 में सहोदरन साहित्य पुरस्कार से नवाजा गया। शेखर चित्रकला व फोटोग्राफी में भी रुचि रखते हैं। संपर्क : ajaysekher@gmail.com

कांचा आयलैया (जन्म : 5 अक्टूबर, 1952) : अकादमीशियन, लेखक और दलित-बहुजन अधिकारों के कार्यकर्ता कांचा आयलैया का जन्म तेलंगाना के वारंगल जिले में भेड़ चराने वाली जाति 'कुरमा गोला' के एक गरीब परिवार में हुआ। 'मैं हिंदू क्यों नहीं हूं' उनकी बहुत चर्चित किताब है। उनके द्वारा लिखी गई कुछ अन्य किताबें 'सामाजिक-आध्यात्मिक और वैज्ञानिक क्रांति', 'भगवान एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में : ब्राह्मणवाद को बुद्ध की चुनौती', 'भारत में लोक-तंत्र : एक खोखला शंख', 'मटके को घुमाता, जमीन को टाइल करता : हमारे समय में श्रम की गरिमा', 'अछूत भगवान : जाति और नस्ल पर एक उपन्यास', 'राष्ट्र और दमनकारी संस्कृति', 'भैंस राष्ट्रवाद : आध्यात्मिक फासीवाद की आलोचना', 'हिंदुत्व मुक्त भारत : दलित-बहुजन, सामाजिक-

आध्यात्मिक और वैज्ञानिक क्रांति पर मंथन' हैं। संपर्क : ilaiahk@rediffmail.com

एम दिलीप कुमार : मैसूर विश्वविद्यालय, कर्नाटक के संचार व पत्रकारिता विभाग से शोध कर रहे एम दिलीप कुमार कन्नड़भाषी लेखकों के उस समूह का हिस्सा हैं, जो बहुजन की सांस्कृतिक विरासत को संजोए जाने पर बल देता है तथा उसे अपने साहित्यिक-सामाजिक संघर्ष का एक अभिन्न अंग मानता है।
संपर्क : dileepnarasaiah02@gmail.com

नंदिनी सुंदर (जन्म : 1967) **:** नंदिनी सुंदर दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में समाजशास्त्र की प्रोफेसर हैं। उन्होंने छत्तीसगढ़ के आदिवासी समाज का वर्षों तक नजदीकी से अध्ययन किया है और वे इस राज्य में मानवाधिकारों के उल्लंघनों की आलोचना करती रही हैं। उन्होंने अन्य लोगों के साथ मिलकर राज्यपोषित निगरानी समूह, सलवा जुडुम, पर प्रतिबंध लगाने के लिए जनहित याचिका दायर की, जिसके कारण सलवा जुडुम पर प्रतिबंध लगा। सुंदर 2007 से लेकर 2011 तक 'कॉन्ट्रिब्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी की संपादक थीं और अनेक जर्नलों के बोर्ड की सदस्य रही हैं। उनकी हाल की किताब 'दी बर्निंग फॉरेस्ट : इंडियाज वार इन बस्तर' (जुग्गरनॉट, 2016) है। संपर्क : nandinisundar@yahoo.com

संजीव चंदन (जन्म : 25 नवंबर, 1977) : प्रकाशन संस्था व समाजकर्मी समूह 'द मार्जनलाइज्ड' के प्रमुख संजीव चंदन चर्चित पत्रिका 'स्त्रीकाल' (अनियतकालीन प्रिंट व वेबपोर्टल) के संपादक भी हैं। श्री चंदन अपने स्त्रीवादी-अम्बेडकरवादी लेखन के लिए जाने जाते हैं। स्त्री मुद्दों पर उनके द्वारा संपादित पुस्तक 'चौखट पर स्त्री' (2014) प्रकाशित है तथा उनका कहानी संग्रह '546वीं सीट की स्त्री' शीघ्र प्रकाश्य है। संपर्क : themarginalised@gmail.com

अश्विनी कुमार पंकज (जन्म : 09 अगस्त, 1965): हिन्दी और झारखंड की देशज भाषा नागपुरी में लिखने वाले अश्विनी कुमार पंकज कवि, कथाकार, उपन्यासकार, पत्रकार, नाटककार, रंगकर्मी और आंदोलनकारी संस्कृतिकर्मी हैं। वे जन संस्कृति मंच एवं उलगुलान संगीत नाट्य दल, रांची के संस्थापक संगठक सदस्य भी रहे हैं। इन दिनों वे नागपुरी पत्रिका 'जोहार सहिया', पाक्षिक बहुभाषी अखबार 'जोहार दिसुम खबर' और रंगमंच एवं प्रदश्यकारी कलाओं की त्रैमासिकी 'रंगवार्ता' का संपादन-प्रकाशन करते हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं- 'पेनाल्टी कॉर्नर' और 'इस सदी के असुर' (कथा संग्रह), 'जो मिट्टी की नमी जानते हैं' व 'खामोशी का अर्थ पराजय नहीं होता' (कविता संग्रह), 'अब हमार हक बनेला' (हिंदी कविताओं का

नागपुरी अनुवाद), तथा 'झारखंडी साहित्य का इतिहास', 'झारखंड : एक अंतहीन समरगाथा' (लेख संग्रह)। संपर्क : akpankaj@gmail.com

राम पुनियानी (जन्म : 25 अगस्त, 1945) : इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार 2006, नेशनल कम्युनल हारमनी अवार्ड 2007 व मुकुंद जी मेनन ह्यूमन राइट्स अवार्ड 2015 से सम्मानित लेखक व सामाजिक कार्यकर्ता राम पुनियानी, धर्मनिरपेक्षता संबंधी विविध पहलों से जुड़े रहने के अलावा, अल्पसंख्यकों के मानवाधिकारों के उल्लंघन की कई पड़तालों और ओडिशा में धमाकों के बाद निर्दोष मुस्लिम युवकों की गिरफ्तारी की जांच के लिए गठित जनन्यायाधिकरण का हिस्सा रहे हैं तथा देश के विभिन्न भागों में प्रजातंत्र के लिए खतरों, सांप्रदायिक राजनीति के एजेंडे और आतंक की राजनीति से जुड़े मुद्दों पर कार्यशालाएं संचालित करते रहे हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं– 'सेकंड एसेसीनेशन ऑफ गांधी', 'कम्युनल पॉलिटिक्स : फैक्ट्स वर्सिस मिथ्स', 'टेररिज्म : मिथ एंड रिएलिटी', 'सोशल जस्टिस : इलस्ट्रेटेड प्राइमर', और 'फासिज्म ऑफ संघ परिवार'। संपर्क : ram.puniyani@gmail.com

ध्रुबो ज्योति (7 जुलाई 1989) : हिंदुस्तान टाइम्स अखबार में पत्रकार हैं। वे मूलतः विज्ञान के विद्यार्थी रहे हैं। इन्होंने कोलकाता के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक संस्थान बोस इंस्टीट्यूट से खगोल भौतिकी में परास्नातक किया है, उसके बाद चेन्नई के एशियन कॉलेज ऑफ जर्नलिज़्म से पत्रकारिता डिप्लोमा किया। संपर्क : dhruba.purkait@hindustantimes.com

साक्षात्कारकर्ता व अनुवादक

नवल किशोर कुमार (जन्म : 29 जून 1983) : नवल किशोर कुमार कई वर्षों तक सॉफ्टवेयर टेक्नोक्रेट के रूप में काम करने के बाद वर्ष 2006 में पत्रकारिता में आए तथा 'अपना बिहार डाट ओआरजी' नामक न्यूज पोर्टल शुरू कर बिहार की पत्रकारिता में एक बहुजन विकल्प पेश करने की कोशिश की। इस बीच उन्होंने पटना से प्रकाशित सन्मार्ग, दैनिक आज, अर्ली मार्निंग, तरुणमित्र आदि में भी बतौर पत्रकार काम किया। फिलहाल वे दिल्ली से प्रकाशित फारवर्ड प्रेस के संपादक (हिंदी) हैं। संपर्क : nawal.buildindia@gmail.com

पूजा सिंह (जन्म : 1 जुलाई 1983) : समतामूलक समाज के स्वप्न के साथ 10 वर्षों से पत्रकारिता में सक्रिय पूजा सिंह आईएएनएस, नेटवर्क 18, तहलका से जुड़ी रही हैं। आदिवासी, स्त्री और वंचित वर्ग के मुद्दों पर विशेष रिपोर्टिंग की है। संप्रति शुक्रवार पाक्षिक में मध्यप्रदेश प्रतिनिधि के रूप में कार्यरत।
संपर्क : aboutpooja@gmail.com

संजय जोठे (जन्म : 20 सितंबर 1978) : फोर्ड फाउंडेशन इंटरनेशनल फेलो और लीड इंडिया फेलो संजय जोठे समाज कार्य में देवी अहिल्या विश्वविद्यालय से एम.ए. के बाद ब्रिटेन की ससेक्स यूनिवर्सिटी से अंतरराष्ट्रीय विकास में एम.ए. हैं। वर्तमान में टीआईएसएस, मुम्बई से पीएचडी कर रहे हैं। सामाजिक विकास के मुद्दों पर पिछले 14 वर्षों से विभिन्न संस्थाओं के साथ कार्यरत हैं। इनकी एक किताब 'जोतिबा फुले : जीवन और विचार' प्रकाशित हो चुकी है और एक अन्य किताब प्रकाशनाधीन है। विभिन्न पत्र पत्रिकाओं और ब्लॉग्स में बहुजन समाज और दलित विमर्श के मुद्दों पर शोध आधारित लेखन करते हैं। संपर्क : sanjayjothe@gmail.com

डॉ. सिद्धार्थ (जन्मतिथि : 15 जून 1971) : स्वतंत्र लेखक व अनुवादक डॉ. सिद्धार्थ अनेक पत्र-पत्रिकाओं के लिए नियमित लिखते हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकों तथा आलेखों का अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद किया है, जिनमें बद्रीनारायण की किताब 'कांशीराम : लीडर ऑफ दलित्स' आदि शामिल हैं। वे गोरखपुर यूनिवर्सिटी से हिंदी साहित्य में पीएचडी हैं तथा गोरखपुर विश्वविद्यालय और कुशीनगर पीजी डिग्री कॉलेज में अध्यापन कर चुके हैं। संप्रति : फारवर्ड प्रेस के संपादकीय विभाग में कार्यरत। संपर्क : ramusiddharta@gmail.com

संदीप कुमार (जन्म : 2 जुलाई 1981) : दिल्ली विश्वविद्यालय के श्यामलाल कॉलेज में अंग्रेजी के सहायक प्राध्यापक संदीप कुमार की प्रमुख पुस्तकें 'नागपुरिया फोक टेल्स' तथा 'लिक्ट्रेचर फ्राम द मार्जिन' हैं। संपर्क : skyadav_bhu@yahoo.co.in

आवरण चित्र

पुस्तक के आवरण पर डॉ. लाल रत्नाकर की 'महाप्रतापी महिषासुर' श्रृंखला की 'औष्ट्रिक व पशुपालक महिषासुर' (2012) शीर्षक पेंटिंग प्रकाशित है।

लाल रत्नाकर (जन्म : 12 अगस्त 1957) : उत्तर प्रदेश के जौनपुर जनपद के विशुनपुर गांव के एक संपन्न कृषक परिवार में पैदा हुए डॉ. रत्नाकर ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से 'पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोककला' विषय पर पीएचडी की है। इन दिनों एमएमएच कॉलेज, गाजियाबाद के चित्रकला विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत डॉ. रत्नाकर के चित्रों में ग्रामीण जनजीवन, विशेष रूप से महिलाएं उपस्थित रहती हैं। उनकी चित्र-प्रदर्शनियां भारत तथा विभिन्न यूरोपीय व अरब देशों की प्रतिष्ठित कला दीर्घाओं में आयोजित हो चुकी हैं। संपर्क : ratnakarartist@gmail.com